विवेक-ज्योति

वर्ष ४०, अंक १२ दिसम्बर २००२ मूल्य रु. ६.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छत्तीसगढ़)
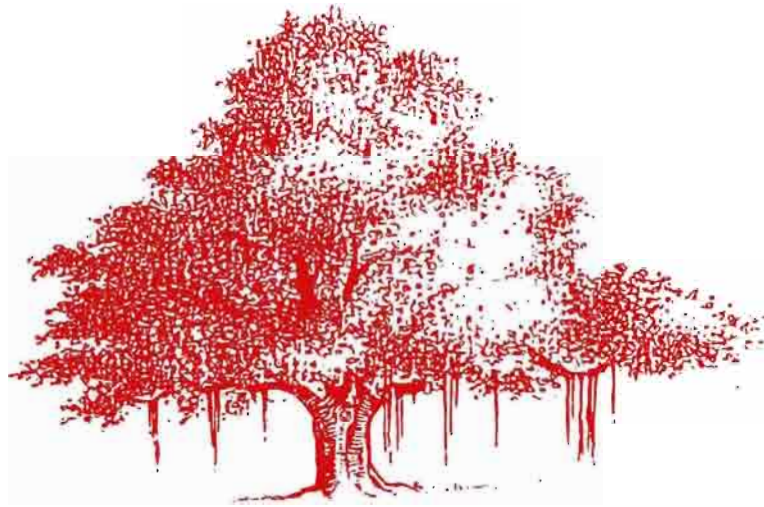
श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

दिसम्बर २००२

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४०
अंक १२

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२५२६९, ६३६९५९, २२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

श्रीरामकृष्ण के दृष्टान्त – २

रेखांकन – स्वामी आप्तानन्द

धन का गर्व नहीं करना चाहिए । यदि कहो – 'मैं धनी हूँ' तो तुमसे भी बढ़कर धनी हैं, ऐसे-ऐसे धनी हैं, जिनकी तुलना में तुम भिखारी जैसे लगोगे । साँझ होने के बाद जब जुगनू उड़ने लगते हैं तो सोचते हैं – 'हमीं लोग इस दुनिया को उजाला दे रहे हैं ।' पर ज्योंही तारे चमकने लगते हैं त्योंही उनका सारा घमण्ड चूर हो जाता है । तब तारे सोचने लगते हैं – 'हमीं लोग जगत् को प्रकाशित कर रहे हैं ।' परन्तु जब गगन में चन्द्रमा का उदय होता है तो उसकी शुभ्र चाँदनी के सामने तारे मानो लज्जा से मलिन हो जाते हैं । फिर चाँद मन-ही-मन सोचता है – 'मेरे ही प्रकाश से उद्भासित होकर जग मानो मुस्कुरा रहा है ।' परन्तु देखते-ही-देखते पूर्व गगन को रंजित कर सूर्य का उदय हो जाता है और चन्द्रमा मलिन होकर थोड़े ही समय में कहाँ अदृश्य हो जाता है । अपने को धनवान् समझनेवाले लोग यदि प्रकृति के इन सत्यों पर विचार करें तो फिर उन्हें धन का घमण्ड नहीं रह जाएगा ।

नीति-शतकम्

पापान्निवारयति योजयते हिताय
गुह्यं निगूहति गुणान् प्रकटीकरोति ।
आपद्‌गतं च न जहाति ददाति काले
सन्मित्रलक्षणमिदं निगदन्ति सन्तः ।।७३।।

अन्वयः – पापात् निवारयति, योजयते हिताय, गुह्यं निगूहति, गुणान् प्रकटीकरोति, आपद्‌गतं न जहाति, काले च ददाति, इदं सन्मित्रलक्षणं सन्तः निगदन्ति ।

भावार्थ – सज्जन लोग अच्छे मित्र के लक्षण इस प्रकार बताते हैं – वह पापों से दूर रखता है, भले कार्यों में लगाता है, रहस्य की बातों को छिपाता है, गुणों को प्रकट करता है, विपत्ति आने पर साथ नहीं छोड़ता और आवश्यकता पड़ने पर धन आदि देकर सहायता करता है।

पद्माकरं दिनकरो विकचीकरोति
चन्द्रो विकासयति कैरव-चक्रवालम् ।
नाभ्यर्थितो जलधरोऽपि जलं ददाति
सन्तः स्वयं परहिते विहिताभियोगाः।।७४।।

अन्वयः – नाभ्यर्थितः दिनकरः पद्माकरं विकचीकरोति, चन्द्रः कैरव-चक्रवालं विकासयति, जलधरः अपि जलं ददाति । सन्तः स्वयं परहिते विहिताभियोगाः ।

भावार्थ – सूर्य बिना याचना के ही, स्वतः प्रवृत्त हो कमलों के समूह को खिला देता है; चन्द्रमा बिना याचना के ही, स्वतः प्रवृत्त हो कुमुदों के समूह को खिला देता है; बादल भी बिना याचना के ही, स्वतः प्रवृत्त हो जल बरसा देते हैं, (इसी प्रकार) सन्तगण भी स्वतः प्रवृत्त हो दूसरों के कल्याण में लगे रहते हैं।

– भर्तृहरि

सारदा-वन्दना

– १ –

(कलावती-रूपक)

जननी सारदा, मैं आ गया हूँ, तव शरण में
सदा के वास्ते रख लो मुझे अपने चरण में ।

नहीं भूलूँ कभी, रहना सतत मेरे स्मरण में,
तुम्हारी दृष्टि हो तो भय कहाँ जीवन-मरण में ।।

तुम्हीं हो व्याप्त लय-पालन-सृजन में,
तुम्हीं हो भक्ति-श्रद्धा सत् सुजन में,
तुम्हीं माँ व्याप्त हो हर एक कण में,
तुम्हारी दृष्टि हो तो
भय कहाँ जीवन-मरण में ।।

– २ –

(भैरवी-रूपक)

सर्वविद्या शक्तिरूपिणि मातृमूरति सारदा ।
इस जगत् की उलझनों में, राह दिखलाना सदा ।।

सृष्टि-पालन और विलयन,
दुःख-सुख मधुहास-विलपन,
तुम सभी में व्याप्त जननी,
चिन्मयी हो सर्वदा ।।

जीव अगणित सुत तुम्हारे,
विकल हो तुमको पुकारे,
तुम द्रवित हो दौड़ आती,
गोद में लेने उठा ।।

मैं रहूँ जिस हाल में भी,
विस्मरण ना हो कभी,
जो तुम्हारी दृष्टि हो, सब
सह सकूँगा आपदा ।।

– *विदेह*

एक ही है परम सत्ता

स्वामी विवेकानन्द

वह सर्वव्यापी, अप्रेमय, निर्गुण, निर्विकार तथा जगत् का महाकवि है; सूर्य, चन्द्र तथा नक्षत्र उसके छन्द हैं और वह प्रत्येक को उसका उचित भाग देता है।

इस बहुत्वपूर्ण जगत् में जो उस एक को, इस परिवर्तनशील जगत् में जो उस अपरिवर्तनशील को, अपनी आत्मा-की-आत्मा के रूप में देखता है, अपना स्वरूप समझता है, वही मुक्त है, वही आनन्दमय है, उसी ने लक्ष्य की प्राप्ति की है।

जो इस बहुत्वपूर्ण जगत् में उस एक अखण्ड-स्वरूप को देखते हैं, जो इस मर्त्य जगत् में उस एक अनन्त जीवन को देखते हैं, जो इस जड़ता और अज्ञान से पूर्ण जगत् में उस एक प्रकाश और ज्ञान-स्वरूप को देखते हैं, उन्हीं को चिर शान्ति मिलती है, अन्य किसी को नहीं, अन्य किसी को नहीं।

जिस प्रकार एक ही अग्नि जगत् में प्रविष्ट होकर दाह्य वस्तु के रूप-भेद से भिन्न भिन्न रूप धारण करती है, उसी प्रकार सब प्राणियों की वह एक अन्तरात्मा नाना वस्तुओं के भेद से उस उस वस्तु का रूप धारण किये हुए है और सबके बाहर भी है। जिस प्रकार एक ही वायु जगत् में प्रविष्ट होकर नाना वस्तुओं के भेद से वैसे वैसे रूपवाली हो गई है, उसी प्रकार सब प्राणियों की वही एक अन्तरात्मा नाना वस्तुओं के भेद से उस उस रूप की हो गई है और सबके बाहर भी है।

जो एक है, सबका नियन्ता और सब प्राणियों की अन्तरात्मा है, जो अपने एक रूप को अनेक प्रकार का, कर लेता है। उसका दर्शन जो ज्ञानी पुरुष अपने में करते हैं, वे ही नित्य सुखी हैं। अन्य नहीं – **नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।**

केवल एक ही संत्ता है तथा वह एक सत्ता ही विभिन्न मध्यवर्ती वस्तुओं के मध्य से होकर दिखाई पड़ने पर, वही पृथ्वी अथवा स्वर्ग अथवा नरक अथवा ईश्वर अथवा भूत-प्रेत अथवा मानव अथवा दैत्य अथवा जगत् अथवा यह सब कुछ प्रतीत होती है। परन्तु इन सब विभिन्न वस्तुओं में – जो इस मृत्यु के सागर में उस एक का दर्शन करता है, जो इस परिवर्तनशील विश्व में, उस एक जीवन का दर्शन करता है, उस अपरिवर्तनशील का साक्षात्कार करता है, उसी को चिरंतन शान्ति की उपलब्धि होगी, किसी अन्य को नहीं, किसी अन्य को नहीं।

विश्व-ब्रह्माण्ड का एक परमाणु अपने साथ सारे संसार को घसीटे बिना तिल भर भी नहीं चल सकता। जब तक सारे संसार को साथ साथ उन्नति के पथ पर आगे नहीं बढ़ाया जाएगा, तब तक संसार के किसी भी भाग में किसी भी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं है। अब दिन-प्रतिदिन यह बात और भी स्पष्ट होती जा रही है कि किसी भी समस्या का समाधान केवल जातीय, राष्ट्रीय या किन्हीं संकीर्ण भूमियों पर नहीं खोजा जा सकता।

तुम्हारे भीतर जो परमात्मा है, वही सबमें है। यदि तुमने यह न जाना, तो कुछ न जाना। भेद हो कैसे सकता है? यह सब तो एक है। प्रत्येक प्राणी सर्वोच्च प्रभु का मन्दिर है। यदि तुम उसे देख सके, तो ठीक है और यदि नहीं देख सके, तो तुममें आध्यात्मिकता अभी तक नहीं आयी।

यदि हम अपने दैनिक जीवन में हर मनुष्य को अपना भाई न मान सकें, तो फिर पूजा के समय परमेश्वर को पिता कहने से क्या लाभ?

प्रत्येक मानव-व्यक्तित्व की तुलना काँच की चिमनी से की जा सकती है। हर व्यक्ति के अन्दर वही शुभ्र ज्योति – दिव्य परमात्मा की आभा है, पर काँच के रंग और उसकी मोटाई के अनुरूप उससे विकीर्ण होनेवाली ज्योति की किरणें विभिन्न रूप ले लेती हैं।

विश्व में कहीं भी कोई पाप हो, तो प्रत्येक व्यक्ति उसके लिए जिम्मेदार है। जो क्रियाएँ विश्व से एकत्व स्थापित करें, वे पुण्य हैं और जो विभेद स्थापित करें, वे पाप हैं। तुम उस अनन्त के ही एक अंश हो। यही तुम्हारा स्वभाव है। अतः तुम अपने भाई के रक्षक हो। जब तक हर प्राणी (चींटी, कुत्ता तक) मुक्ति नहीं पा लेता, तब तक किसी को मुक्ति नहीं मिल सकती। जब तक सभी सुखी नहीं हो जाते, कोई सुखी नहीं हो सकता। जब तुम किसी को क्षति पहुँचाते हो, तो स्वयं को ही क्षति पहुँचाते हो, क्योंकि तुम और तुम्हारा भाई एक ही है।

विस्तार ही जीवन है और संकोच मृत्यु; प्रेम ही जीवन है और द्वेष ही मृत्यु।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि कोई भी व्यक्ति या राष्ट्र दूसरों से स्वयं को अलग रखकर जी नहीं सकता, और जब कभी भी गौरव, नीति या पवित्रता की भ्रान्त धारणा से ऐसा प्रयत्न किया गया है, उसका परिणाम सदैव उस पृथक होनेवाले पक्ष के लिए घातक सिद्ध हुआ है। ❖ ❖ ❖

विज्ञान बनाम ईश्वर

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

आधुनिक युग विज्ञान की तुमुल प्रगति का है। आज मनुष्य विज्ञान के सहारे नई सृष्टि रच रहा है – वह नये उपग्रह बनाकर अन्तरिक्ष में छोड़ रहा है। कृत्रिम गर्भाधान तथा परखनली-सन्तान के प्रयोग भी सफल हो चुके हैं। ऐसे प्रयोग भी हो रहे हैं, जिनसे माता के गर्भ का सहारा न लेते हुए शिशु का जन्म प्रयोगशाला में हो जाय। ऐसी स्थिति में बौद्धिक वर्ग ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में अत्यन्त शंकालु हो गया है। वह समझता है कि विज्ञान के नवीनतम आविष्कारों ने ईश्वर के मिथ्यात्व को सिद्ध कर दिया है तथा आज ईश्वर का कोई स्थान नहीं रह गया है। परन्तु यदि हम ध्यानपूर्वक अपने युग की प्रगति का अवलोकन करें, तो प्रतीत होगा कि नव्यतम वैज्ञानिक अन्वेषण ईश्वर और तत्त्वज्ञान के मिथ्यात्व का बोध नहीं कराते, अपितु उसके अस्तित्व और उसकी महत्ता को ही पुष्ट करते हैं। तात्त्विक ज्ञान की दृष्टि से वेदान्त की ज्ञानप्रणाली सर्वोकृष्ट है। वेदान्त की दृष्टि से प्रत्येक जीव ही शिव है, हर आत्मा ही परमात्मा है। अज्ञान के कारण जीव अपने ईश्वरत्व का बोध नहीं कर पाता। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य ईश्वर के समान ही सब कुछ करने में समर्थ है, उसमें अनन्त शक्ति है। हाँ, उसे इस शक्ति के प्रकटन का उपाय जानना चाहिए।

मनुष्य दो स्तरों पर कार्य करता है - शरीर के स्तर पर और मन के स्तर पर। यदि वह अज्ञान के बन्धनों को काट सके, तो वह दोनों धरातलों पर असीम शक्ति सम्पन्न हो जाएगा। शरीर भौतिक धरातल है और इसी पर विज्ञान की अलौकिक शक्तियाँ प्रकट हुई हैं। यह जो मनुष्य नई सृष्टि रच रहा है, उपग्रह बना रहा है, यह इसी सत्य की पुष्टि करता है कि मनुष्य में अनन्त शक्ति है - जैसे बाहरी जगत् के सन्दर्भ में, वैसे ही भीतरी या अध्यात्म जगत् के सम्बन्ध में भी। यदि किसी दिन गर्भ के बाहर प्रयोगशाला में शिशु का जन्म हो गया, तो उससे ईश्वर को कोई आँच नहीं आती, बल्कि उससे मनुष्य का ईश्वरत्व ही सिद्ध होता है।

गड़बड़ी इसलिए उत्पन्न होती है कि हम ईश्वर को व्यक्ति विशेष समझते हैं और उसके सम्बन्ध में कल्पना करते हैं कि वह कहीं विराजित होगा और वहाँ से विश्व का काम-काज चला रहा होगा। ईश्वर वास्तव में ऐसा नहीं है। वह तो विश्व में सर्वत्र व्याप्त नियम है, अथवा आइंस्टीन की भाषा में कहें तो महत् बुद्धि है। जैसे धर्म इस 'महत् बुद्धि' अथवा 'सर्वव्यापी नियम' की खोज है, उसी प्रकार विज्ञान भी इसी की खोज है। नयी सृष्टि बनाने अथवा उपग्रह रचने अथवा प्रयोगशाला में शिशु उत्पन्न करने के मिस से वास्तव में विज्ञान उस अनुस्यूत नियम या 'महत् बुद्धि' को पकड़ना चाहता है। जिस दिन वैज्ञानिक उस सर्वानुस्यूत नियम को पकड़ लेगा, उस दिन वह ईश्वर ही हो जायेगा। धर्म भी ठीक यही बात करता है। यहाँ धर्म का तात्पर्य वेदान्त से है।

इस दृष्टिकोण से विचार करने पर पता चलता है कि विज्ञान और ईश्वर में कोई विरोध नहीं है। विज्ञान का अर्थ उसके आविष्कारों से नहीं लगाना चाहिए। उपग्रह, कृत्रिम गर्भाधान अथवा गर्भ के बिना उत्पन्न शिशु – ये विज्ञान नहीं हैं, ये विज्ञान के चमत्कार हैं। ज्ञान की अनुसन्धानात्मक प्रवृत्ति को विज्ञान कहते हैं। जब हम इन्द्रियग्राह्य जगत् को छानबीन का विषय बनाकर उस सर्वानुस्यूत नियम को पकड़ने जाते हैं, तो वह 'विज्ञान की प्रणाली' कहलाता है। और जब मन को खोज का विषय बनाकर उस ओर बढ़ते हैं, तो वह 'धर्म की प्रणाली' के नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मनुष्य का ईश्वरत्व अकाट्य है। इसी अर्थ में वेदान्त कहता है कि मनुष्य ही ईश्वर है। केवल अज्ञान की परतें खुलनी है कि वह छिपा हुआ ईश्वरत्व प्रकट हो जाता है। विज्ञान उत्तरोत्तर मनुष्य के इसी ईश्वरत्व को उद्घाटित कर रहा है।

अंगद-चरित (५/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'अंगद-चरित' पर कुल १० प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उसके पाँचवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक हैं। – सं.)

भगवान श्रीराम मनुष्य के रूप में मानवीय पद्धति से श्री सीताजी को पाने का मार्ग प्रशस्त करते हैं। सीताजी का कैसे हरण हो गया, उनसे दूरी कैसे उत्पन्न हो गई? दूरी को मिटाने के लिए सीताजी की खोज की गई, इसके लिए बन्दरों को भेजा गया। ये बन्दर कौन हैं? गोस्वामीजी कहते हैं, ये बन्दर मानो नाना प्रकार के मोक्ष के साधन हैं। 'विनय-पत्रिका' में उनका परिचय देते हुए वे कहते हैं –

कैवल्य-साधन अखिल भालु मर्कट ...। ५८/८

ये बन्दर मोक्ष के विविध साधन हैं। उन सभी को सीताजी की खोज में भेजा गया। इसका तात्पर्य यह है कि सारे साधनों का अन्तिम फल सीताजी के रूप में शान्ति, मुक्ति या भक्ति को पा लेना है। यही इसका अर्थ है। तब? सारे बन्दरों को भेजा गया इसका क्या तात्पर्य है? ऐतिहासिक सन्दर्भ में तो सीताजी दक्षिण दिशा (लंका) में हैं, फिर सभी दिशाओं में बन्दर क्यों भेजे गए? इसका उत्तर यही है कि भिन्न भिन्न धर्मों में साधना की भिन्न भिन्न पद्धतियाँ है। ये भिन्न भिन्न पद्धतियाँ मानो भक्ति को पाने की भिन्न भिन्न दिशाएँ हैं। भिन्न भिन्न दिशाओं में तीर्थ बने हुए हैं – कोई पूर्व में है, तो कोई पश्चिम में, कोई उत्तर में है, तो कोई दक्षिण में। लोग ईश्वर की खोज में भिन्न भिन्न दिशाओं में स्थित तीर्थों की यात्रा करते हैं। इसका अर्थ यह है कि चाहे हम भिन्न भिन्न साधनों, पद्धतियों या मार्गों का आश्रय लें, पर जीवन का अन्तिम लक्ष्य तो सीताजी को पाना ही है।

अब पूछा जा सकता है कि यदि सभी बन्दरों को सीताजी नहीं मिलीं, तो क्या उन्हें प्रयत्न नहीं करना चाहिए था? ऐसी बात नहीं है, पहले संकेत दिया गया है – छलाँगवाला मार्ग और सीढ़ीवाला मार्ग। सम्भव है कि पहली यात्रा में वे सीताजी को पाने में समर्थ न हों। अत: जो अन्य दिशाओं में गए, वे तो निराश होकर लौट ही आए। उनके लौट आने से साधकों में जो कमी थी, वह सामने आ गई। क्या कमी थी? सुग्रीव ने एक महीने की समय-सीमा दे दी थी। समय के भीतर जो आ जाय तो ठीक है, पर समय बीत जाने पर बिना सीताजी का पता लगाये लौटेगा, उसे प्राणदण्ड दिया जाएगा। साधक भी तो कई श्रेणी के होते हैं। उनमें जो दुर्बल स्वभाव के थे, उन्हें लगा कि इसमें तो बड़ी समस्या है, प्राणदण्ड का भय है, उन लोगों ने पूरा गणित लगाया। साधना में यह गणित उपयोगी नहीं होता। ज्यादा गणित करने पर फिर वही वृत्ति आती है, जो बन्दरों मे आयी। उन्होंने सोचा कि हम सीताजी को खोजने उतनी ही दूर चलें, जहाँ से एक महीने में लौटा जा सके। मिल जायँ, तो ठीक और यदि न मिलें, तो कम-से-कम प्राण तो बचेंगे। इसका अर्थ यह है कि वे अपने प्राणों का मूल्य समझ नहीं पाये। भक्तों ने कहा है न! – सिर देने से ईश्वर मिले तो जरूर ले लीजिए, क्योंकि यदि पीछे हटेंगे तो न जाने कौन आकर यह सिर ले ले। सिर तो जाने ही वाला है –

जौ सिर साँटे हरि मिले, तौ हरि लीजै दौर।
ना जानै या देह में, गाहक आवे और।।

अत: सिर देकर भगवान को पा लेने में ही सार्थकता है। प्राण के भय से पीछे हटना! प्राण मुख्य है या सीताजी? अपने प्राण के प्रति आसक्ति होती है, ममता होती है। बन्दर इससे मुक्त नहीं हैं, अनेक साधक भी इससे मुक्त नहीं होते। अत: बन्दर एक महीने के भीतर ही योजना बनाकर लौट आए और उन लोगों ने अपने प्राण बचा लिए। उनमें दुर्बलता थी, पर साथ-ही-साथ उन्हें अपनी दुर्बलता का ज्ञान भी था। पर इतना होते हुए भी, उनमें सीताजी को पाने का प्रयत्न है।

जब हनुमानजी लौटकर आए और बन्दरों को पता चला कि उन्होंने तो सीताजी को पा लिया, तब उन्हें अपनी दुर्बलता दिखाई दी कि 'अरे, हम तो सचमुच अपने प्राण के लोभी थे'। हमें अपने प्राणों से बड़ी आसक्ति थी, इसीलिए हम जीवन के चरम लक्ष्य को नहीं पा सके। देखो न! हनुमानजी ने तो पा लिया। फिर जब सारे बन्दर लौट आए, तब क्या हुआ? प्रभु के साथ चलकर उन्होंने सीताजी को पाया या नहीं?

व्यक्ति और साधना के सन्दर्भ में 'मानस' का दृष्टिकोण बड़ा सांकेतिक है। कभी कभी हिन्दू धर्म पर यह आक्षेप किया जाता है कि यह बड़ा व्यक्तिवादी है। इसमें व्यक्ति अपने हित की चिन्ता तो खूब करता है, पर समाज के कल्याण की चिन्ता बहुत कम करता है। यह समाजोन्मुखी धर्म न होकर व्यक्ति-केन्द्रित धर्म है। 'मानस' में इसका बड़ा सार्थक उत्तर मिलता है। वहाँ कहा गया है कि व्यक्ति और समाज को परस्पर विरोधी मानकर क्यों चलते हैं? हो सकता है कि कोई व्यक्ति इतना आत्मकेन्द्रित हो जाय कि समाज का ध्यान न रखे। पर साधना के सन्दर्भ में व्यक्ति के आत्मकेन्द्रित होने का अभिप्राय

क्या है? साधना का अन्तिम लक्ष्य क्या है? रामायण का सूत्र तो यह है कि इस व्यक्ति-केन्द्रित साधना का फल केवल एक व्यक्ति नहीं, बल्कि पूरे समाज को मिले। यदि व्यक्ति का महत्व समाज को साथ लेकर चलने में हो, तब तो ऐसा भी हो सकता है कि उनमें से कुछ लोग आपको मार्ग में ही बिठा लें, आगे बढ़ने ही न दें और आप लक्ष्य पर पहुँच ही न सकें। तो ऐसी स्थिति में साधना तो व्यक्तिकेन्द्रित ही होगी। पहले तो अकेले हनुमानजी ही सीताजी को पाने में सफल हुए, फिर उनके पीछे सभी सफल हुए। यदि हनुमानजी पहले ही निर्णय ले लेते कि सबको साथ ले चलना है और ये लोग नहीं जा पा रहे हैं, तो हम भी नहीं जाएँगे। हनुमानजी यदि इतने समाजोन्मुख हो जाते, तब तो वे सीताजी को पा ही नहीं सकते थे। अत: व्यक्ति का महत्व इस दृष्टि से है कि साधना व्यक्तिपरक होगी और यह आवश्यक नहीं कि आपकी साधना में हर व्यक्ति सम्मिलित हो, पर जब हनुमानजी ने साधना के द्वारा सत्य का साक्षात्कार कर लिया, तब क्या उसका लाभ अकेले हनुमानजी को मिला? यही सन्त-परम्परा है, जो व्यक्ति और समाज को सामञ्जस्य की दृष्टि से देखती है। हनुमानजी लंका से लौटकर प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि लंका की यात्रा कीजिए। इस प्रकार जब प्रभु लंका की यात्रा करते हैं, तो दसों दिशाओं से असफल होकर लौटे हुए सभी बन्दर भगवान की कृपा से समुद्र पर सेतु बन जाने पर, लंका पहुँचने में सफल हुए और अन्त में रावण-कुम्भकर्ण के वध हो जाने पर, उन सभी को सीताजी का साक्षात्कार हुआ। मानो एक व्यक्ति ने पाया और सारे समाज को उसका लाभ दे दिया। यह जो सामञ्जस्य का तत्व है, वह इस प्रसंग में दिखाई देता है। यह जो शान्ति का, भक्ति का मार्ग है, वह केवल समूह का मार्ग नहीं हो सकता, क्योंकि सबकी क्षमताएँ एक जैसी नहीं हैं। यद्यपि सभी शान्ति की खोज में लगे हुए हैं, अलग अलग दिशाओं में जा रहे हैं, अलग अलग मार्गों से यात्रा कर रहे हैं, परन्तु अपनी दुर्बलताओं के कारण जिसकी जितनी सीमा है, वह उतना प्रयत्न करके लौट आता है। इन साधनों में जो सर्वश्रेष्ठ है, जो महानतम है, अद्वितीय है, जिनकी तुलना में इतिहास में कोई सिद्ध पुरुष दिखाई नहीं देता, वे हैं हनुमानजी महाराज। हनुमानजी महाराज के चरित्र को क्या कहा जा सकता है! ज्ञान, भक्ति तथा कर्म की परिपूर्णता और समस्त साधनों का सामंजस्य जिनके अकेले के चरित्र में दिखाई देता है, वे हैं – हनुमानजी।

भगवान श्रीराघवेन्द्र का अभिप्राय यह था कि प्रयत्न तो हर व्यक्ति को करना ही चाहिए, भले ही उस प्रयास में हम अन्तिम लक्ष्य तक पहुँच न सकें, लेकिन इस भय से प्रयत्न करना न छोड़ें। **गणेशजी की प्रथम पूजा का रहस्य क्या है?** वहाँ पर भी यही बात आती है। जब यह प्रश्न आया कि सारे देवताओं में सबसे पहले पूजा किसकी हो, तो शंकरजी ने कह दिया कि जो सबसे पहले ब्रह्माण्ड की परिक्रमा कर आएगा, वही प्रथम पूज्य होगा। यह सुनकर सारे देवता अपने अपने वाहन पर बैठकर चले। उस दौड़ में गणेशजी भी सम्मिलित हो गए। अब गणेशजी का वाहन तो प्रसिद्ध है ही। वे मूषक-वाहन हैं। औरों के वाहन यदि उड़नेवाले हैं, तो उनका वाहन बिल्कुल धीमी गति से चलनेवाला है। नारदजी इस दृश्य को देख रहे थे। देवतागण जिधर से परिक्रमा पर जा रहे थे, नारद ठीक उल्टी दिशा से जा रहे थे, ताकि सबसे भेंट हो जाय। पर नारदजी को आते देखकर देवता मार्ग बदलकर बच लेते थे। डरते थे कि नारदजी ने कहीं कोई कथा-प्रसंग छेड़ दी तो हम पिछड़ जाएँगे। वे ऐसा अभिनय करते थे मानो उन्होंने नारदजी को देखा ही नहीं। बस, भागे चले जा रहे हैं। ऐसे असंख्य लोग होते हैं, जो जीवन की दौड़ में नारद की ओर देखने में डरते हैं। सत्संग से डरते हैं। सोचते हैं कि जितना समय सत्संग में लगायेंगे, उतने समय में तो न जाने कितना आगे बढ़ जाएँगे। इसी भाग-दौड़ में सभी लगे दिखाई दे रहे हैं। इस प्रकार देवता न जाने कितना आगे निकल गए, तब बड़ी देर बाद कहीं गणेशजी महाराज दिखाई पड़े।

नारदजी को देखते ही गणेशजी अपने वाहन से उतर कर खड़े हो गए और उन्हें प्रणाम किया। नारदजी खूब हँसे। कहने लगे – महाराज, आप हैं तो बुद्धि के देवता, पर आपका काम तो बहुत बुद्धिमता का नहीं लग रहा है। – क्यों? बोले – "बुद्धिमान व्यक्ति तो गणित भी जानता है। आपने भी थोड़ा गणित तो कर लिया होता कि ब्रह्माण्ड कितना बड़ा है और यह चूहा आपको कितनी देर में पहुँचाएगा। आप क्यों प्रयत्न कर रहे हैं?" गणेशजी ने बहुत बढ़िया बात कही। बोले, "बुद्धिमता का अर्थ कर्म से विरत हो जाना थोड़े ही है। यह गणित करके कि हमारा चूहा तो कभी पहुँचेगा ही नहीं, अत: हम चलें ही नहीं। अरे, चलने में तो लाभ-ही-लाभ है। यह प्रथम-पूजा ही तो सब कुछ नही होता। इस विश्वयात्रा मे कितना बड़ा लाभ है! कितने तीर्थ हैं! और आप जैसे सन्त का सत्संग मिल गया! महाराज, यह लाभ तो बहुत बड़ा है। इसलिए इस यात्रा में मैं निकला हूँ। मै कोई घाटे में थोड़े ही हूँ, मुझे तो लाभ-ही-लाभ मिल रहा है।" नारदजी ने मुस्कुराकर कहा – "आपका विवेक ही सच्चा विवेक है। आपके विवेक ने सत्य को खोल कर दिया है। अब मेरी बात मान लीजिए।" – क्या? बोले – "**रा** और **म** लिखकर उसकी परिक्रमा कर लीजिए और शंकरजी के पास जाकर कह दीजिए कि मैंने ब्रह्माण्ड की परिक्रमा कर ली है।" गणेशजी प्रसन्न हो गए। राम लिखकर उसका परिक्रमा की और शंकरजी के पास लौट गए। अब कल्पना कीजिए कि यदि नारदजी ने यही सलाह किसी अन्य को दी होती, तो क्या होता? वह तो यही समझता कि किसी ने मुझे हराने के लिए ही नारदजी को भेजा है।

इसका तात्पर्य क्या है? गणेशजी में जैसा विवेक है, वैसा ही विश्वास भी है। सामंजस्य होना चाहिए। विवेक के साथ विश्वास और विश्वास के साथ विवेक – इन दोनों का सामंजस्य गणेशजी में है। विश्वास ऐसा, जो अभी दिखाई पड़ा। नारदजी बोले कि रामनाम की परिक्रमा में ब्रह्माण्ड की परिक्रमा है, तो सचमुच रामनाम की परिक्रमा करके लौट आए और शंकरजी से कहा कि मैं ब्रह्माण्ड की परिक्रमा करके लौट आया। – कैसे की? बोले – मैंने रामनाम लिखकर उसकी परिक्रमा कर ली। शंकरजी ने प्रसन्न होकर उन्हें हृदय से लगा लिया। बोले – पुत्र तो तुम पहले से ही थे, पर आज सच्चे अर्थों में तुमने मेरा पुत्र होने का परिचय दिया। शंकरजी मूर्तिमान विश्वास हैं और ऐसा ही विश्वास तो उनके पुत्र में होना चाहिए। उनमें विवेक है और विश्वास भी है। विवेक यह है कि यदि सचमुच रामनाम ही विश्व का मूल है, तो मूल बीज को जिसने समझ लिया, उसने वृक्ष को भी समझ लिया। जो वृक्ष की डाली और पत्तों में उलझा रह गया, वह तो पता नहीं कब तक भटकता रहेगा। इसका सांकेतिक अर्थ यह है कि हम सफल नहीं होंगे – ऐसा सोचकर पहले से ही हाथ-पैर समेट लेना उचित नहीं हैं। नीतिशतकम् (२७) में भर्तृहरि कहते हैं –

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारम्भ विघ्नविहिता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारब्धमुत्तम-जनाः न परित्यजन्ति ।

कुछ व्यक्ति तो ऐसे होते हैं जो यह सोचकर किसी कार्य को प्रारम्भ ही नहीं करते कि मार्ग में यह विघ्न है, यह समस्या है और उसका इतना लम्बा-चौड़ा गणित करके बैठ जाएँगे कि मुझसे यह नहीं हो सकेगा। आगे उन्होंने कहा – दूसरे कुछ ऐसे भी होते हैं, जो मध्यम या द्वितीय श्रेणी के हैं, जो प्रारम्भ करते तो हैं, पर विघ्न आने पर हार मान जाते हैं। लेकिन – जो लोग श्रेष्ठ या उत्तम पुरुष हैं, वे चलते ही रहते हैं और विघ्न आने पर भी विरत नहीं होते।

इसी प्रकार बन्दरों में भी सभी श्रेणियाँ हैं, पर अन्ततः जो लोग लौटकर आ गए थे, जो बहुत दूर चल चुके थे, वे भी जब हनुमानजी की कृपा से भगवान राम के साथ चलते हैं, तो सीताजी को पाते हैं। इसका सांकेतिक अर्थ यह है कि जीव या साधक जब अपने प्रयत्न में असफल हुए, तो हनुमानजी जैसे सन्त की कृपा हुई और जब सामने समुद्र आया तो वे भगवान से प्रार्थना करते हैं कि हम तो समुद्र पार करने में असमर्थ हैं।

यह समुद्र क्या है? यह है देहाभिमान। इस देहाभिमान से ऊपर उठने का हम चाहे जितना भी प्रयत्न या साधन-भजन क्यों न करें, परन्तु हम इस देहाभिमान के समुद्र को पार करने में सफल नहीं होते। प्रयास के द्वारा अभिमान तथा मोह पर विजय पाने की क्षमता हममें नहीं है। यह जो असमर्थता की अनुभूति है, वह तो चलने पर ही होगी न! थकान का अनुभव तो चलने पर ही होगा। जो व्यक्ति चलेगा ही नहीं, उसे थकने का अनुभव क्या होगा? अतः ये सारे बन्दर जो भेजे जा रहे हैं, इसका अर्थ यह है कि हम भरसक प्रयत्न करे और अन्ततः जब वह हमारे लिए सम्भव न हो, तब हम 'विनय-पत्रिका' में गोस्वामीजी के समान प्रार्थना करें – महाराज, मैंने मन को वश में करने के लिए बहुत कुछ किया, लेकिन मैं तो हार गया –

भगवान बोले – ठीक है, हार गए, तो फिर ...? बोले – महाराज, मैंने दूसरा उपाय सोचा है। – क्या? गोस्वामीजी ने कहा – मेरे पास जितने उपाय थे, उन्हें तो कर लिया, पर एक उपाय ऐसा है, जो आप ही के पास है। – वह क्या है?–

हौं हार्यौ करि जतन बिबिध
बिधि अतिसै प्रबल अजै ।
तुलसिदास बस होइ तबहिं
जब प्रेरक प्रभु बरजै ।। वि. ८९

– प्रभो, अन्तर्यामी के रूप में मन के सूत्रधार तो आप ही हैं, अतः वह आपके बरजने पर ही मानेगा।

इसे शरणागति कह लीजिए या दैन्य कह लीजिए। साधना के बाद बन्दरों के जीवन में असमर्थता की अनुभूति आती है और वे भगवान के चरणों में समर्पित हो जाते हैं, तब भगवान स्वयं उन बन्दरों रूपी साधको को लेकर जाते हैं और राक्षसों को मारने हेतु उनसे लड़ने की प्रेरणा देते हैं। जिन बुराइयों को हम स्वयं जीत सकते हैं, प्रयत्नपूर्वक जीतें, पर प्रयत्न के बाद भी हम जिन बुराइयों को न जीत सकें, उन्हें जीतने के लिए प्रभु से प्रार्थना करें। कुछ राक्षसों को तो बन्दर मार देते हैं, पर बहुत राक्षस ऐसे भी होते हैं, जिन्हें वे नहीं मार पाते। अन्त में वे भगवान के पास जाकर पुकारते हैं – महाराज, बचाइए, बचाइए, यह दुष्ट तो हमें मृत्यु के समान खा जाएगा –

पाहि पाहि रघुबीर गोसाईं ।
यह खल खाइ काल की नाईं ।। ६/८२/७

तब भगवान कहते हैं – ठीक है, मेरे पीछे आ जाओ। तब भगवान स्वयं रावण-कुम्भकर्ण का वध करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति जब अपनी असमर्थता का निवेदन भगवान के सामने करता है, तो जो दुर्गुण वह साधन से नहीं मिटा पाता, वे भी भगवान की कृपा से मिट जाते हैं।

रावण की मृत्यु के बाद भगवान ने विभीषण से कहा – सीताजी को ले आइए। विभीषण ने सीताजी के लिए लंका की सर्वोत्कृष्ट पालकी मँगवाई। राक्षसियों ने सीताजी को स्नान कराया, सुन्दर वस्त्र पहनाए, उत्तम आभूषणों से शृंगार किया और पालकी में बिठाया। बचे हुए जो राक्षस उस पालकी को उठाकर चले। कुछ राक्षस प्रहरी के रूप में पालकी के दोनों ओर चल रहे थे। जब यह पालकी वानरों की सेना के निकट

पहुँची, तो बन्दर सीताजी को देखने के लिए बड़े उतावले हो उठे। बन्दर तो स्वभाव से ही बड़े चंचल होते हैं। यह एक सांकेतिक भाषा है। **बन्दर चंचल मन का प्रतीक है।** परन्तु अब यह चंचलता भगवान की भक्ति से जुड़ गई है। अब ये उतावले हो रहे हैं कि जिन सीताजी के लिए इतना प्रयत्न हुआ, हम जरा इनका दर्शन तो कर लें। पालकी के चारों ओर रेशमी वस्त्रों के पर्दे लगे हुए हैं। बन्दर उन्हें उठाने की चेष्टा करते हैं, तो रावण के अनुशासन में प्रशिक्षित लंका के कठोर पहरेदार बन्दरों को दूर कर देते हैं, पास भी नहीं आने देते –

रच्छक कोपि निवारन धाए ।। ६/१०८/१०

पहरेदार राक्षस छड़ी लेकर दौड़े – यह क्या कर रहे हो; हटो, हटो, तुम लोग दोनों ओर पंक्ति में खड़े हो जाओ, बाद में दर्शन करना। परन्तु प्रभु बन्दरों के उतावलेपन तथा चंचलता को देखकर विभीषण से कहते हैं – तुम सीताजी को ठीक पद्धति से नहीं ले आए। – क्यों? भगवान बोले – पालकी में परदा डालकर सीताजी को लाना, यह बिल्कुल ठीक नहीं है।

प्रभु ने दो बातें कहीं। एक तो लंका में इतने दिनों तक सीताजी पर आवरण पड़ा रहा और अब रावण तथा कुम्भकर्ण – मोह तथा अभिमान, इन दुर्गुणों का विनाश हो जाने पर भी किसी आवरण का आवश्यकता है क्या? क्या अब भी बीच में कोई व्यवधान, कोई दूरी बनी हुई है? साथ ही उन्होंने याद दिला दिया – विभीषण, इन बन्दरों ने सीताजी को पाने के लिए इतनी दूर पैदल यात्रा की है; वे उन्हें माँ के रूप में देखते हैं; उन्हें दर्शन देने क्या सीताजी भी पैदल नहीं आ सकतीं? –

कह रघुबीर कहा मम मानहु ।
सीतहि सखा पयादें आनहु ।।
देखहुँ कपि जननी की नाईं ।
बिहसि कहा रघुनाथ गोसाईं ।। ६/१०८/११-२

इसका सांकेतिक अर्थ यह है कि यह जो भक्ति और जीव के बीच में जो मोह-अभिमान के आवरण हैं, वे यदि जीवन से मिट गए, तो किसी प्रकार की दूरी नहीं रह गई। इस प्रकार सभी बन्दर सीताजी को पाने में सफल हुए। पर प्रारम्भ में प्रभु ने केवल हनुमानजी को चुना, क्योंकि वे जानते थे कि इस लक्ष्य को पहली यात्रा केवल हनुमानजी ही पूरा कर सकते हैं।

सीताजी की खोज में दक्षिण की ओर जाने वाले सारे बन्दर यात्रा आरम्भ करने के पूर्व प्रभु को प्रणाम करते हैं। प्रभु ने हर बन्दर को बड़े प्रेम से आशीर्वाद दिया और अन्त में हनुमानजी ने प्रभु के चरणों में प्रणाम किया। तब प्रभु ने बड़े प्रेम से हनुमानजी को पास बुला लिया –

पाछें पवन तनय सिरु नावा ।
जानि काज प्रभु निकट बोलावा ।।
परसा सीस सरोरुह पानी ।
कर-मुद्रिका दीन्हि जन जानी ।। ४/२३/९-१०

हनुमानजी को पास बुलाकर प्रभु ने उनके सिर पर हाथ रख दिया और अपनी मुद्रिका निकालकर उन्हें देते हुए कहा – "मेरा सन्देश लेकर जाओ। सीताजी को मेरे बल तथा विरह का सन्देश सुनाना और उनकी अवस्था जानकर लौट आना।" सारे बन्दर विदा हुए। अंगद भी सब कुछ देख रहे थे।

भगवान का चुनाव बड़ा विचित्र था। इस दल के मुखिया हनुमानजी नहीं, बल्कि अंगदजी थे। मुखिया होने के कारण ही प्रभु को प्रणाम करने सबसे पहले अंगद जी ही आए और सबसे अन्त में हनुमानजी। प्रभु ने यह कार्य हनुमानजी को सौंपा, तो अंगद के मन में कहीं-न-कहीं इस बात की थोडी-सी ग्लानि जरूर आयी कि 'प्रभु अभी तक मुझे इस योग्य नहीं मानते, मुझ पर उनको अभी इतना विश्वास नहीं है कि मुझे यह उत्तरदायित्व सौंपें। शायद प्रभु सोचते हैं कि हनुमानजी में योग्यता है, पर मुझमें नहीं है।' अंगद की हिचकिचाहट उस यात्रा में प्रगट हो जाती है। अंगद की इस ग्लानि को दूर करने के लिए प्रभु ने उन्हें राजदूत बनाकर रावण की राजसभा में भेज दिया। भगवान हनुमानजी और अंगद – दोनों को पहचानते हैं। ऐसी बात नही कि अंगद अयोग्य हों।

प्रभु जानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति की योग्यता अलग अलग प्रकार की होती है। जहाँ तक हनुमानजी की योग्यता का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि उनमें समग्र योग्यता है, लेकिन अंगद के चरित्र में अब भी एक कमी है। अंगद के जीवन में विचार और चतुराई की प्रधानता है। हनुमानजी के जीवन में विवेक, विचार तथा विश्वास – ये तीनों हैं। लेकिन इतना होते हुए भी हनुमानजी के चरित्र का महत्वपूर्ण पक्ष है – विश्वास। इसीलिए प्रभु दोनों में भेद भी करते हैं। जब वे हनुमानजी को भेजते हैं, तो उनसे एक बार भी नही कहते कि तुम बड़े बुद्धिमान हो, जबकि वे तो बुद्धिमानों में अग्रगण्य हैं। परन्तु जब वे अंगद को भेजते हैं, तो अंगद प्रभु से पूछते हैं – वहाँ जाकर मुझे क्या करना है? प्रभु अंगद के सिर पर हाथ रखकर मुस्कुराते हुए कहते हैं – "यह तुम क्यों पूछ रहे हो? अंगद मुझे पता है, तुम महान् बुद्धिमान हो, महान् चतुर हो, तुम्हें कुछ बताने की आवश्यकता नहीं" –

बहुत बुझाइ तुम्हहि का कहऊँ ।
परम चतुर मैं जानत अहऊँ ।। ६/१७/७

गोस्वामीजी ने एक सूत्र दिया और वह सूत्र था कि चतुराई और विश्वास में एक अन्तर है। चतुराई श्रेष्ठ है या विश्वास? यह झगड़ा व्यर्थ है। यदि कोई कह भी दे कि विश्वास श्रेष्ठ है और यदि किसी मे चतुराई के संस्कार है, तो वह कहने मात्र से तो विश्वासी नही हो जाएगा। वैसे ही यदि किसी विश्वासी से कह दिया जाय कि विचार और तर्क श्रेष्ठ है, तो इससे वह व्यक्ति विचारशील तो हो नहीं जाएगा। दोनों में अन्तर है। इसे इस प्रकार कह सकते हैं – जिस व्यक्ति मे बुद्धि प्रधान है,

वह पूरी तरह सोच-समझकर, पूरा गणित करके ही मानता है। अंगद के जीवन में इसी की प्रधानता है। विचार मस्तिष्क का पक्ष है और विश्वास हृदय का। पहले मानना विश्वास का पक्ष है। हनुमानजी के जीवन में विश्वास आदि से अन्त तक एकरस है और अंगद बुद्धि एवं विचारप्रधान थे। उन्होंने प्रभु के चरित्र को देख-सुनकर, विचार करके क्रमश: अपने जीवन में विश्वास को पाया। और हनुमानजी में तो विश्वास की ही प्रधानता है।

आगे चलकर गोस्वामीजी ने दोनों में अन्तर डाल दिया। हनुमानजी जब लंका से लौटे और जब अंगद लंका से लौटे, तो प्रभु ने दोनों के कार्यों की प्रशंसा की – सरल की भी और बुद्धिमान की भी, चतुर की भी और विश्वासी की भी। पर गोस्वामीजी ने यहाँ एक सूत्र दिया है। प्रभु ने जब हनुमानजी से कहा – अच्छा बताओ, तुमने लंका कैसे जलाई? –

कहु कपि रावन पालित लंका।
केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका ।। ५/३३/५

हनुमानजी बोले – महाराज, आप मुझसे पूछ रहे हैं कि लंका कैसे जलाई गई? प्रभु ने कहा – तुमने जलाया, तो पूछा भी तुम्हीं से तो जाएगा। हनुमानजी बोले – "तो पहले यही निर्णय हो जाय कि लंका जलाई गई या जलवाई गई। यदि जलाई गई, तो मुझसे पूछा जाय और यदि जलवाने वाला कोई अन्य हो, तो उसी से पूछा जाय। महाराज, मैं घी-तेल कहाँ से लाता, आग कहाँ से लाता। यह सारा प्रबन्ध तो आपने रावण से ही करा दिया। जलाने की योजना तो आपकी थी। यह सब करने का संकल्प आपने किया और निमित्त मुझे बना दिया, इसमें मेरी क्या भूमिका थी? –

नाँघि सिंधु हाटकपुर जारा।
निसिचर गन बधि बिपिन उजारा ।।
सो सब तव प्रताप रघुराई।
नाथ न कछु मोरि प्रभुताई ।। ५/३३/८-९

हनुमानजी के इस वाक्य के द्वारा गोस्वामीजी ने अन्तर बता दिया। प्रभु को हनुमानजी की वाणी कैसे लगी? –

सुनि प्रभु परम सरल कपि बानी।
एवमस्तु तब कहेउ भवानी ।। ५/३४/२

उनकी सरलता देखकर प्रभु गद्‌गद हो गए। हनुमानजी की बात से लग रहा है कि उसमें चतुराई है, पर प्रभु ने उसे चतुराई के रूप में नहीं देखा। **सरल और चतुर में एक अन्तर होता है। जो मन में है, वही कह दिया तो सरल है। और चतुराई यह है कि मन में चाहे जो हो, पर यह निर्णय करना कि क्या कहना ठीक है।** चतुर व्यक्ति मन की बात ज्यों-की-त्यों नही कहेगा, बल्कि जैसे कहना चाहिए, वैसा कहेगा। **सरल कपि बानी** – इसका अर्थ है कि हनुमानजी तो मूर्तिमान विश्वास – भगवान शिव के अवतार हैं, घनीभूत विश्वास हैं। जो उन्हें प्रतिक्षण बोध होता है, वही वे सरलतापूर्वक कह देते हैं। अंगद के लौट आने पर प्रभु ने उनसे कहा – बड़े आश्चर्य की बात है कि जो रावण राक्षसों के कुल का तिलक है और सारे जगत् में जिसके बाहुबल की धाक है, उसके सिर से जो चार मुकुट तुमने भेजे, वे तुम्हें कैसे मिले? –

रावनु जातुधान कुल टीका।
भुजबल अतुल जासु जग लीका ।।
तासु मुकुट तुम्ह चारि चलाए।
कहहु तात कवनी बिधि पाए ।। ६/३८/६-७

उत्तर में अंगद ने कहा – महाराज, वे मुकुट नहीं थे। – तो क्या थे? बोले – महाराज, वे तो मुकुट नहीं, बल्कि साम-दाम-दण्ड तथा भेद नामक राजा के चार गुण थे; वेद कहते हैं कि नीति-धर्म के ये चार सुन्दर चरण राजा के हृदय में बसते हैं, अत: (रावण को अपने अयोग्य समझ) ये मुकुट रावण को छोड़ स्वयं ही आपके पास आ गए हैं। इन्हें मैंने नहीं भेजा –

सुनु सर्बग्य प्रनत सुखकारी।
मुकुट न होहिं भूप गुन चारी ।।
साम दान अरु दंड बिभेदा।
नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा ।।
नीति धर्म के चरन सुहाए।
अस जियँ जानि नाथ पहिं आए ।।
धर्महीन प्रभु पद बिमुख काल बिबस दससीस।
तेहि परिहरि गुन आए सुनहु कोसलाधीस ।। ६/३८

अब उत्तर दोनों का मिलता-जुलता है। हनुमानजी ने भी सारा श्रेय भगवान को दे दिया और अंगद ने भी यही कहा कि मैंने नहीं भेजा। लेकिन प्रभु ने इसका भी आनन्द लिया। गोस्वामीजी एक अन्तर डाल देते हैं। अंगद के उत्तर में **परम सरल कपि बानी** नहीं है। बोले – अंगद की चतुराई सुनकर भगवान बड़े प्रसन्न हुए।

परम चतुरता श्रवन सुनि बिहसे राम उदार। ६/३८

इसका अभिप्राय क्या है? प्रभु तो सरलता में भी आनन्द लेते हैं और चतुराई में भी। लेकिन जब सीताजी के पास भेजा तो सरल को भेजा और रावण के पास भेजा तो चतुर को। **उपयोगिता दोनों की है, सरलता का उपयोग भक्ति के सन्दर्भ में और चतुराई का मोह के सन्दर्भ में।** दोनों की आवश्यकता है। प्रभु दोनों का सदुपयोग करते हैं और दोनों का सुन्दर समन्वय कर देते हैं। हनुमानजी महाराज के जीवन में इन दोनों का समन्वय है। आगे चलकर अंगद के जीवन में भी इसी समन्वय को स्थापित कर देते हैं।

❖ **(क्रमशः)** ❖

दुःखों से मुक्ति

स्वामी सत्यरूपानन्द

हम देखते हैं कि मनुष्य प्रायः अपनी परिस्थिति को अनुकूल और सुखद बनाने के प्रयत्न में लगे रहते हैं। असन्तोषप्रद परिस्थितियों को बदलना चाहते हैं। किन्तु देखा यह जाता है कि अधिकांश व्यक्तियों का श्रम प्रायः व्यर्थ ही जाता है।

ऐसा इसलिए होता है कि मनुष्य अपनी परिस्थितियों को बदलना और सुधारना चाहता है, पर स्वयं अपने आपको बदलना और सुधारना नहीं चाहता। सच्चाई तो यह है कि स्वय को सुधारने और बदलने की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। यही कारण है कि परिस्थितियों के बदलने पर भी उसे अपेक्षित सुख और सन्तोष नहीं मिल पाता। मनुष्य यह पाता है कि बदली हुई परिस्थितियाँ उसे थोड़े समय के लिये ही अनुकूल और सुखद प्रतीत होती हैं। कुछ ही दिनों के पश्चात् वे परिस्थितियाँ उसे अलोनी और अरुचिकर लगने लगती हैं तथा वह पुनः पहले के ही समान असन्तुष्ट एवं दुखी हो जाता है।

ऐसा क्यों होता है? ऐसा इसलिये होता है कि मनुष्य के दुःख और असन्तोष का कारण बाहर नहीं है। उसके सुख अथवा दुःख का कारण तो उसके भीतर ही है। मनुष्य की आन्तरिक परिस्थितियों एवं उसके विचारों के अनुसार ही बाहर की परिस्थितियाँ उसे सुखी या दुःखी बनाती हैं। मनुष्य जिस प्रकार के विचारों का पोषण करता है, उसका स्वभाव तथा चरित्र उसी के अनुरूप हो जाता है और हम सभी का यह अनुभव है कि मनुष्य के स्वभाव तथा चरित्र के अनुसार ही बाहर की परिस्थितियाँ उसे सुखी अथवा दुःखी करती हैं। इसलिये जब तक मनुष्य अपने विचारों में आवश्यक परिवर्तन नहीं कर लेता, विचारों के परिवर्तन द्वारा अपने स्वभाव तथा चरित्र में परिवर्तन नहीं कर लेता तब तक बाहर की बदली हुई परिस्थितियाँ कितनी भी अनुकूल और सुखद क्यों न हों, उसे अधिक समय तक सुखी एवं सन्तुष्ट नहीं रख सकतीं।

मनुष्य के दुःखों का मूल कारण उसके अपने भीतर उसके अपने विचारों में है। अतः आज यदि वह दुःखी है, तो उसे अपने दुःख के कारणों को अपने भीतर ही ढूँढ़ना चाहिये। यदि मनुष्य निष्पक्ष होकर सच्चाई से अपने विचारों का निरीक्षण और विश्लेषण करे तो उसे अपने असन्तोष और दुःख का कारण अवश्य ही मिल जायेगा। और एक बार दुःखों का कारण मिल जाने पर मनुष्य अपने विचारों और भावनाओं में आवश्यक परिवर्तन करके अपने दुःख और असन्तोष से मुक्त हो सकता है। इस प्रकार मनुष्य बाहर की परिस्थितियों की दासता से सदैव के लिये मुक्त हो सकता है। ❑❑❑

अनमोल बोल

* जो तुम चाहते हो, विश्वास उसे लाकर तो नहीं देगा, परन्तु उसे पाने के लिए तुम्हें स्वयं क्या करना है, इसका रास्ता बता देगा।

* विश्वास मन की वह स्थिति है, जो बहुधा 'असम्भव' शब्द को अप्रासंगिक बना देती है।

* सच्ची प्रार्थना वह है, जिसमें व्यक्ति सहायता की माँग तभी करता है, जब वह अपनी सामर्थ्य भर प्रयास करने के बाद पाता है कि उद्देश्य-सिद्धि के लिए उसकी अपनी शक्ति पर्याप्त नहीं है।

* कठिनतम यात्रा को पूरा करने के लिए हमें एक बार में केवल एक ही कदम लेने की आवश्यकता है; परन्तु हाँ, हमें कदम-पर-कदम लेते रहना होगा।

* जो लोग वर्तमान की भलीभाँति जुताई-बुवाई करते हैं, उनके लिए भविष्य भरपूर फसल लाता है।

जीने की कला (१६)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी है। उन्होने युवको के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी दो भागो मे निकला है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे है। अनुवादक है श्री रामकुमार गौड़, जो सम्प्रति आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र मे सेवारत हैं। – सं.)

वैज्ञानिकों का अज्ञान

विद्युत, अणुशक्ति, तापीय ऊर्जा, सौर ऊर्जा आदि क्षेत्रों में अपनी खोजों तथा आविष्कारों के द्वारा वैज्ञानिकों ने संसार का नक्शा ही बदल दिया है। यदि उन्होंने नि:स्वार्थ प्रेम की शक्ति को जानने के लिए प्रयोग करके पूरे संसार मे इसके उत्पादन, संग्रहण तथा वितरण हेतु उपायों की खोज की होती, तो यह पृथ्वी के लिए महान् वरदान सिद्ध होकर इसे स्वर्ग बना देता। वैज्ञानिक प्रवृत्तिवाले बुद्धिवादी पहले कहा करते थे कि नि:स्वार्थ प्रेम की शक्ति का प्रयोग केवल धर्मोपदेशक ही कर सकते थे। वैज्ञानिकों और राजनीतिज्ञो ने इस क्षेत्र में कोई ध्यान नहीं दिया था। पिट्रिम ए. सोरोकिन कहते हैं, "युद्ध के पूर्व का विज्ञान सन्तो की अपेक्षा अपराधियों, बुद्धिमानों की अपेक्षा विक्षिप्तों, परस्परिक सहायता की अपेक्षा अस्तित्व के लिए संघर्ष और सहानुभूति एवं प्रेम की अपेक्षा घृणा तथा स्वार्थपरायणता के अध्ययन में ही अत्यधिक रुचि रखता था।"

दो विश्वयुद्धों ने संसार भर के लोगों को विध्वस्त कर डाला है। उन दिनों कई देश शान्ति-स्थापना का मुखौटा लगाये युद्ध की तैयारी कर रहे थे। स्वार्थपरता, यथेच्छाचार, इन्द्रियपरकता, लोभ और गलाकाट प्रतियोगिता के कारण समाज रुग्ण होकर विनाशोन्मुख हो गया है। पिट्रिम ए. सोरोकिन के मतानुसार नि:स्वार्थ प्रेम के उन्नयन के उपायों की खोज करके लोगो के बीच सहयोग तथा सद्भाव का संचार करना जरूरी है। इससे लोगो को शान्ति और सामञ्जस्यपूर्ण जीवन बिताने तथा समाज से हिसा, आतंकवाद तथा हत्या की प्रवृत्तियों को दूर करने की प्रेरणा मिलेगी। यह उनका पूर्ण विश्वास था कि गोले-बारूद तथा युद्धोपकरणों पर खर्च किये गए संसाधनों का केवल एक अंश भी यदि नि:स्वार्थ प्रेम के उन्नयन हेतु शोध पर व्यय किया जाता, तो इससे संसार का काफी लाभ हुआ होता। यदि मनुष्य नि:स्वार्थ प्रेम की उपयोगिता का अनुभव कर ले, तो हर व्यक्ति अपने दैनिक जीवन में घृणा, ईर्ष्या और निकृष्ट स्वार्थपरता से मुक्त होकर विशुद्ध प्रेम का आचरण करके अपने आसपास के लोगों तथा स्वयं को भी सुखी बना सकता है। यह विशुद्ध प्रेम आसन्न विनाश के खतरे से पृथ्वी की रक्षा करेगा।

प्रेम का जादू

हम अनन्त काल तक इस बात की प्रतीक्षा नहीं कर सकते कि वैज्ञानिकगण रुचि लेकर मानवता पर प्रेम के प्रभाव के विषय में अपने निष्कर्ष को प्रकाशित करेंगे। मनो-दैहिक रोगों के विषय में शोधो से यह पहले ही ज्ञात हो चुका है कि घृणा हानिप्रद तथा प्रेम हितकर है। घृणा, ईर्ष्या, गर्व, चिन्ता, शंका, प्रतिशोध शारीरिक स्वास्थ्य को घोर क्षति पहुँचाने वाले विष हैं। प्रेम न केवल शारीरिक स्वास्थ्य, अपितु नैतिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए भी जरूरी है। जॉन हन्टर नामक एक प्रसिद्ध शल्य-चिकित्सक किसी हृदय-रोग से पीड़ित थे। एक बार वे बोले, "मुझे क्रोध दिला पानेवाले व्यक्ति मे मेरे प्राण तक लेने की शक्ति है।" उनका अभिप्राय था कि क्रोध का आवेश आने पर उनकी हृदयाघात से मृत्यु हो जाती। वे इसी प्रकार हृदयाघात से ही मरे भी। यदि व्यक्ति को ज्ञात हो जाय कि दुर्भावनाएँ उसे नष्ट करने जा रही हैं, तो वह उनसे बचने का प्रयास करेगा। कोई चीज व्यक्तिगत, नैतिक तथा सामाजिक तौर पर भली होने पर भी क्या राजनीतिक रूप से हानिकर हो सकती है? आज सामाजिक विकास के प्रति चिन्तित रहने का दावा करनेवाले हमारे राजनीतिज्ञ, बुद्धिवादी क्रान्तिकारी लोग दलगत स्वार्थ के लिए जनता मे आपसी घृणाभाव का विष फैलाने में लगे हैं। क्रान्ति के नाम पर वे समाज में घृणा का बीजारोपण करते है। बोलने की स्वतंत्रता के नाम पर रचनात्मक आलोचना का मुखौटा लगाकर वे अपने विचारों से असहमत लोगो के चरित्र-हनन का सहारा लेते है। वे झूठ, संघर्ष और झूठी निन्दा की परम्परा शुरू करते है। सामाजिक सुधारको के छद्मवेश में वे सामाजिक ताने-बाने को ही छिन्न-भिन्न करते रहते हैं।

लोगों को इस दूषित परिवेश से बाहर निकलने के लिए उनमें बचपन से ही प्रेम की महत्ता के प्रति विश्वास पैदा करने और प्रेम की सबल भावना जाग्रत करने की जरूरत है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रो में विशुद्ध प्रेम को प्रकट करने के लिए उन्हें प्रशिक्षित किया जाना चाहिए।

अच्छा होता कि अधिकार या सत्ता की आकांक्षा से मुक्त देशभक्तों का एक दल बनाया जाता, जो समाज के विभिन्न वर्गो के बीच सामंजस्य स्थापित करके प्रेम के सन्देश का प्रचार-प्रसार करता। वस्तुत: यह धर्मप्राण लोगों का कार्य है। पर खेद की बात यह है कि वे भी परस्पर झगड़ रहे हैं। *'Edgar Cayce's Story of Attitudes and Emotions'* (एडगर कैसी के दृष्टिकोणों एवं भावनाओं की कथा) नामक पुस्तक में जेफरी फर्स्ट की इन बातों पर ध्यान दें –

"जीव-विज्ञान, स्वास्थ्य, आरोग्य तथा यौन आदि विषयों पर कक्षाएँ लेने के बाद मुझे लगता है कि मैं समझता हूँ कि मैं क्या कह रहा हूँ। मेरा मत है कि यदि पिछले दो सौ वर्षों के दौरान, प्राथमिक श्रेणी से लेकर कॉलेज तक में, व्यावहारिक पाठ्यक्रमों के रूप में निष्काम प्रेम के सभी पहलुओं को हमारे देश के युवकों के समक्ष रखा गया होता, तो आज सामाजिक, राजनैतिक तथा जातीय सम्बन्धों में प्रकट होनेवाली समस्याओं में से अधिकांश का हमें सामना ही नहीं करना पड़ता।"

निःस्वार्थता की कसौटी

स्वामी विवेकानन्द 'कर्मयोग' शीर्षक अपने एक व्याख्यान में नि:स्वार्थता को ईश्वर के रूप में प्रतिपादित करते हैं। वे बताते हैं कि नि:स्वार्थता का गुण व्यक्ति को दिव्यता के स्तर तक उठा देता है। दिव्यता मानवीय पूर्णता की अवस्था है और इसे प्राप्त करना ही जीवन का लक्ष्य है। **मातृदेवो भव** –'माँ को देवी मानो' – यह एक बहु-प्रचारित वेदवाक्य है। माँ की नि:स्वार्थता से भला कौन अपरिचित है? अपनी सुख-सुविधा को भुलाकर वह सन्तानों की देखभाल करती है। और मौका आने पर अपने बच्चों की रक्षा के लिए वह प्राणों की आहुति तक दे डालने में संकोच नहीं करती। इस प्रकार प्रेमपात्र के हितार्थ श्रम करना प्रेम का एक पक्ष है। नि:स्वार्थ प्रेम की साकार मूर्ति माता की सेवा तथा बलिदान की भावना के द्वारा ही असंख्य प्राणी शैशव और बचपन की असहाय अवस्था से उबरते हैं। ऐसे नि:स्वार्थ प्रेम के प्राकट्य से ही मातृत्व सफल और सन्तुष्ट होता है। माता अपने बच्चे को किलकारियाँ भरते देखकर ही सन्तुष्ट हो जाती है। माँ की निरन्तर यही इच्छा रहती है कि वह बच्चे की आनन्दपूर्ण क्रीड़ा को निहारती रहे। यह प्रेम माँ और बच्चे – दोनों के लिए ही सुखदाई है। बच्चे के लिए माँ का प्रेम सुरक्षा व आश्रय का स्रोत है। बच्चे के प्रेम के बिना कोई माँ सन्तुष्ट नहीं हो सकती। माँ के प्रेम का अनुभव किए बिना कोई भी बच्चा आत्म-विश्वास या दूसरों में विश्वास का भाव नहीं प्राप्त कर सकता। मातृप्रेम का आस्वादन करके बच्चा कृतज्ञता से अभिभूत होकर माँ के साथ चिरस्थायी आत्मीयता में बँध जाता है। मातृत्व की भावना को आत्मसात करनेवाली माँ में यह वात्सल्य भाव विशेष रूप से अभिव्यक्त होता है। कभी कभी हो सकता है कि यह नि:स्वार्थ प्रेम अपने पूर्ण विकसित रूप में अभिव्यक्त न भी हो, तथापि हमें अपनी माता के प्रति आदर भाव बनाए रखना चाहिए। हमें अपनी माँ के द्वारा प्रदर्शित प्रेम, मृदुता, करुणा और सेवा को कभी नहीं भूलाना चाहिए। हम कभी अपनी माँ के प्रति कृतघ्न न हों। माँ का आदर करके हम सद्गुण-सम्पन्न बनेंगे और हमारा जीवन कृतार्थ हो जाएगा। इसीलिए प्राचीन ऋषियों ने कहा था – **मातृदेवो भव**। यदि माँ स्वार्थी हो जाय, तो उसके भयावह परिणाम की कल्पना करना सहज है। पाश्चात्य देशों में (वस्तुत: सर्वत्र) कुछ स्त्रियाँ बच्चों को जन्म देने तथा उनके पालन-पोषण के अनावश्यक झंझट में इसलिए भी नहीं पड़ना चाहतीं कि ऐसा करने से कहीं उनका दैहिक सौन्दर्य घट न जाय। यहाँ तक कि विवाहित स्त्रियाँ भी गर्भधारण से आशंकित रहती हैं। ऐसी प्रामाणिक खबरें भी मिलती हैं, जिनमें माताएँ अपने बच्चों की चिल्लाहट तथा शरारतों से तंग आकर उन्हें कठोर दण्ड तक दे डालती हैं। इसके फलस्वरूप उनके बच्चों को आजीवन शारीरिक व मानसिक पीड़ा झेलनी पड़ती है। होल्ट, रिचैट और विंसटन *'Understanding Human Behaviour'* (मानवीय व्यवहार की समझ) नामक अपने ग्रन्थ में बताते हैं, "अनेक महिलाएँ न तो अपनी सन्तानों से प्रेम करती हैं और न ही उनकी देखभाल करती हैं। और हम आगे देखेंगे कि प्रति वर्ष हजारों स्त्रियाँ अपने बच्चों का परित्याग, अंगभंग या हत्या तक कर देती हैं। पिताओं की हालत तो प्राय: और भी बदतर है।" हम भलीभाँति कल्पना कर सकते हैं कि माताओं के स्वार्थी बन जाने और मातृत्व के आदर्श से च्युत हो जाने से समाज पर कैसा संकट छा सकता है।

प्रेम की विशुद्धता की जाँच करने के लिए नि:स्वार्थता ही सच्ची कसौटी है। प्रकृति हमें माता के उदाहरण से नि:स्वार्थता का पाठ पढ़ाती है। फिर मातृत्व की उच्च जिम्मेदारी प्रकृति ने ही स्त्रियों को सौंपा है। पर आज आधुनिक शिक्षा एवं मशीनी युग की सुविधाओं के कारण विकसित राष्ट्रों में स्वतंत्रता को अनैतिकता के लिए छूट मानने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। नारी-स्वातंत्र्य की धारणा मातृत्व के आदर्श की शत्रु होती जा रही है। स्त्री तथा पुरुष के बीच समानता की वकालत करनेवाले तथाकथित सुधारवादी लोग धार्मिक पृष्ठभूमि में निर्मित नियमो से होनेवाले अनेक लाभों को समझ ही नही पाते। धर्म के सभी निर्देश लोगों को क्रमश: नि:स्वार्थता की सीढ़ियों पर चढ़ाते हुए दिव्यानन्द की ओर ही ले जाते हैं। इन आध्यात्मिक आदर्शों पर उचित ध्यान दिए बिना धर्म को बुरा करार देने से समाज विनाश की ओर ही जा सकता है।

माँ का भावुकतापूर्ण प्रेम

अपने प्रौढ़ावस्था में एक वरिष्ठ अधिकारी ने अपनी माँ की स्मृतियों के आलोक में कहा था, "अपने सभी सगे-सम्बन्धियों तथा हम सब के लिए भी मेरी माँ दिव्य प्रेम का जीवन्त प्रतीक थीं। उनका नाम ही 'कृपा' था। मुझे विश्वास हो गया कि वे भगवत्कृपा का साक्षात् विग्रह थी। उनका प्रेम कभी घटता नही था। वे अपने असीम आशावाद के साथ सदैव कठिनाइयो तथा आपदाओं का सामना करने को तैयार रहती। उनमे अपार धैर्य था और उन्होंने कभी प्रशंसा या साधुवाद की अपेक्षा नही की। ईश्वर तथा उनके मार्गदर्शन में मेरी माँ का विश्वास चट्टान

की भाँति सुदृढ़ था। उनका व्यवहार आन्तरिक सन्तोष-भाव से युक्त रहता। मेरे मन में अंकित ये भाव परवर्ती दिनों में भी कभी मिट नहीं सके। उनके सद्गुणों की स्मृतियाँ मुझे अभिभूत कर स्वयं को भुला देती हैं। अपने जीवन के अन्तिम दो-एक वर्षों के दौरान उन्होंने पूर्ण अनासक्ति, सबके प्रति प्रेमभाव और सब कुछ सुस्पष्टतया देखने की अन्तर्दृष्टि प्राप्त करके, स्वयं को एक सन्त के स्तर तक उन्नीत कर लिया था। उनकी उपस्थिति मात्र ही हम सबके लिए प्रेरणा का स्रोत थी। दूर-दराज के स्थानों पर कार्यरत रहते हुए भी हम लोग प्रतिवर्ष कम-से-कम कुछ दिन उनकी संगति में बिताने को आकुल हो उठते थे। बचपन में मैं उनके साथ प्रेम तथा आत्मीयता का बर्ताव किया करता था, परन्तु आज मैं उनके प्रति आदर और भक्तिभाव से नतमस्तक हूँ। काश वे अब भी जीवित रहतीं। हमें उनका अभाव बहुत खलता है।'' क्या कोई परिवार एक ऐसी माता के उत्कृष्ट गुणों से प्रभावित हुए बिना रह सकता है?

प्रेम - पारिवारिक जीवन का प्राण

महल सदृश घरवाला, लोगों से भरा-पूरा एक धनी परिवार है। यहाँ किसी भी सुख-सुविधा की कोई कमी नहीं है। परन्तु लोगों के मन असन्तोष और मनमुटाव की दरारों से विभाजित हैं। समृद्धि के बावजूद, उन्हें आपस में जोड़नेवाली शक्ति – प्रेम का अभाव बना हुआ है।

परिवार का केवल मुखिया ही सुबह उठता है। नित्यकर्म के बाद एक कप चाय के लिए वह अपनी बीमार पत्नी को जगाने का प्रयास करता है। बारम्बार प्रयास के बावजूद उसे जगाने में विफल होकर अपने भाग्य को कोसता हुआ वह खुद चाय बनाने लगता है। बड़बड़ाते हुए वह स्नान करके नित्य पूजा आदि सम्पन्न करने के बाद बिस्तर में सोये बच्चों को जगाने का प्रयास करता है। नीद का मजा किरकिरा हो जाने से वे लोग नाराज होकर भुनभुनाते हैं – ऐसा ही हर रोज होता है और यही दिन भर के अस्त-व्यस्त जीवन की शुरुआत है।

काम के लिए बाहर जाते समय वे बड़बड़ाते हुए कहते हैं, ''उफ! यह काम करने जाना भी कैसी बेकार बात है। अपने कर्म में उनकी निष्ठा नहीं है। विद्यालय में पढ़नेवाले इस घर के बच्चे तक इसके अपवाद नहीं हैं। वे अपने आचरण या व्यवहार में नहीं, अपितु केवल सजने-सँवरने में उत्तम रहते हैं। धन-सम्पत्ति में आकण्ठ डूबकर भी, लोभ की बेड़ियों में जकड़े रहने के कारण वे उसका आनन्द नहीं ले पाते। परिवार के मुखिया समस्त सुख-भोगों की कीमत पर भी, अधिकाधिक धन-सम्पत्ति बटोर लेना चाहते हैं और बच्चे येन-केन-प्रकारेण उसे हथिया कर जीवन का पूरा सुख भोग लेना चाहते हैं। ग्राहकों के प्रति सदा मित्रता रखनेवाले कृपण पिता कभी अपने बच्चों के साथ प्रेम से बातें नही करते। बच्चों को चिल्लाकर पुकारना ही उनकी आदत है। बच्चे कभी उनमें विश्वास रखकर उनसे अपने मन की बातें नहीं कहते। आपसी समझदारी का सूत्र ही छितरा गया है। हर कोई 'मैं, मेरा तथा मेरे द्वारा' का ही मंत्र जपता रहता है। अत: निरन्तर कलह और झगड़ा ही होता रहता है। घर का वातावरण क्रोध, कोलाहल, अविश्वास, अहसमति, ईर्ष्या तथा दुराव से भरा रहता है। घर के सदस्य अनबन और मतभेद से ग्रस्त रहते हैं। उनकी आपसी फूट और मतभेद से घर की सुख और शान्ति जा चुकी है।

घर में केवल सुख-सुविधा की सामग्रियाँ जुटाने मात्र से पारिवारिक जीवन में मेल-मिलाप और सामंजस्य नहीं स्थापित किया जा सकता। मेल-मिलाप और सामंजस्य आपसी प्रेम के पके फल हैं। प्रेम के अभाव में पारिवारिक जीवन का सार ही खो जाता है। मानो सजे-धजे शरीर में भीतर प्राण ही नहीं रह जाता।

एक दूसरा परिवार भी है। इसमें सर्वत्र गरीबी का साम्राज्य फैला है। मकान जीर्ण-शीर्ण है। कपड़े फटे-चिथड़े हैं। परन्तु सब कुछ साफ-सुथरा है। एक दिन भी काम न मिलने पर सबके भूखों मरने की आशंका है। परन्तु यहाँ रंच मात्र भी असन्तोष या अनबन नहीं है। हर व्यक्ति के चेहरे पर मुस्कान है। मेल-मिलाप से रहने का भाव प्रबल है। प्रेम ने इन सभी सदस्यों को एक सूत्र में पिरो रखा है।

पिता रसोइया है और माता मसाले पीसकर तथा इसी तरह के अन्य कार्य करके उनकी सहायता करती है। बड़े सबेरे वे अपने घरेलू कार्यों को पूरा करके काम पर निकल पड़ते हैं। बच्चों के भी बड़े सबेरे ही उठ जाने के कारण उन्हें काम के लिए घर से निकलने में कभी देर नहीं होती। आंगन की सफाई तथा घर की सजावट, घर के उपयोग तथा आंगन में लगे फूल के पौधों के लिए कुएँ से पानी लाना, मवेशियों की देखभाल – सभी कार्यों में बच्चे भी हाथ बँटाते हैं और समय से पूरा कर लेते हैं। घर के सभी सदस्य प्रार्थना के समय एकत्र

हो जाते हैं। और नाश्ते के समय वे पुन: साधारण-सी दो सूखी रोटियाँ खाने के लिए एकत्र होते हैं।

माता-पिता के बाहर जाकर कठिन परिश्रम करते समय, घर की जिम्मेदारी बच्चे ही सँभालते हैं। बड़े बच्चे छोटों को भोजन कराते हैं। उनके विद्यालय जाने के वस्त्रों में पैबन्द भले ही लगे हों, परन्तु वे धुले और स्वच्छ रहते हैं। उनके वस्त्र पुराने दिख सकते हैं, परन्तु उनका व्यवहार अनुकरणीय होता है। वे कभी धन-सम्पदा की चकाचौंध से प्रलोभित नहीं होते। जो कुछ मिल जाता है, वे उसी में सन्तुष्ट रहते हैं।

शाम को माता-पिता के घर लौटने पर बच्चे प्रसन्न चित्त के साथ उनका स्वागत करते हैं। वे दिन भर हुई घटनाओं की जानकारी लेते-देते हैं, कमाई तथा खर्चों के बारे में चर्चा करते हैं, और प्राप्त भोजन को मिल-बाँटकर खाते हैं। साधारण भोजन से भी उन्हें पकवानों का सा स्वाद मिलता है।

यहाँ निर्धनता है, पर कंजूसी नहीं है। उत्सवों और धार्मिक समारोहों में ये उदारतापूर्वक उत्तम चीजों का दान करते हैं। दूसरों को आनन्दित देखकर ये सुखी हो जाते हैं। इनके पास महँगे आभूषण तथा धन-सम्पत्ति नहीं है। इनका उदार मन तथा हृदय ही इनकी सम्पत्ति है, जो दूसरों को दुखी नहीं देख सकता। जब लोग इनकी भौतिक सम्पदा के बारे में पूछते हैं, तो ये केवल यही कहते हैं, "जैसा आप देख ही रहे हैं, हम लोग बाहरी तौर पर गरीब हैं। परन्तु सच्चाई यह है कि हम धनवान हैं। यहाँ प्रचुर आनन्द और सन्तोष है। यह सन्तोष ही हमारी महानतम सम्पत्ति है।" वस्तुत: इनकी सम्पत्ति को देखा नहीं जा सकता। यह हृदय की सम्पदा है। यह प्रेम की सम्पदा है, जो भेद-भाव भुलाकर सबको अपना लेती है। सचमुच ही आभूषणों, वस्त्रों या भौतिक सुख-सुविधाओं पर पारिवारिक सुख निर्भर नहीं करता। यह प्रेम पर निर्भर करता है। प्रेम ही पारिवारिक सुख की कुंजी है। प्रेम ही परिवार का हृदय है। हृदय की सम्पदा ही पारिवारिक सुख को सुनिश्चित करती है और इसका अभाव परिवार का ध्वंस कर देता है।

दिव्य प्रेम का खजाना

एक बार श्रीरामकृष्ण के एक शिष्य स्वामी विज्ञानानन्द जी से एक भक्त ने पूछा, "श्रीरामकृष्ण क[illegible]-से गुण ने आपको सर्वाधिक प्रभावित किया?" स्वामी विज्ञानानन्द जी ने उत्तर दिया, "उन दिनों मैं उनकी आध्यात्मिक शक्ति, उनके त्याग, उनके दिव्य-दर्शनों तथा उनके उपदेशों के बारे में कुछ भी नहीं समझ सका था। पर उनका प्रेम बेमिशाल था। पहली बार ही मिलने पर उन्होंने मेरे साथ ऐसा व्यवहार किया मानो मैं उनका चिर-परिचित मित्र रहा होऊँ। मेरे माता-पिता और भाई भी मुझे इतने विशुद्ध प्रेम-भाव से नहीं देखते थे। श्रीरामकृष्ण प्रेम के भण्डार थे। उनका प्रेम अतुलनीय था। उस दिन मैं उनके प्रेम को देखकर चकित रह गया। वे हम लोगों में से प्रत्येक के कल्याणार्थ कितने अधिक प्रयत्नशील रहते थे!"

श्रीरामकृष्ण देव के सम्पर्क में आनेवाला हर व्यक्ति उनके पवित्र और नि:स्वार्थ प्रेम से अभिभूत हो जाता था। उनके सम्पर्क में आनेवाला हर व्यक्ति आत्म-सम्मान तथा आत्म-निर्भरता से परिपूर्ण हो जाता था और आध्यात्मिक प्रगति-पथ पर अग्रसर होने के लिए प्रेरणा प्राप्त करता था।

श्रीरामकृष्ण देव निरन्तर दिव्य आनन्द में निमग्न रहते थे। उन्हें एकमात्र खेद इस बात का था कि सभी लोग उस दिव्य आनन्द की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील नही हैं। उनकी सतत यही इच्छा रहती कि कैसे वे अन्य लोगों को भी अपनी दिव्य आनन्द की अनुभूति में भागीदार बना लें। लोगों के दुख-दर्द देखकर उनका हृदय द्रवित हो जाता था। एक व्यक्ति को भी बोध तथा दिलासा प्रदान करने में समर्थ होने पर वे अत्यधिक प्रसन्न हो जाते थे। अपने पास आनेवाले लोगों से वे कहते थे, "मेरी कोई सांसारिक इच्छा नही है। भौतिक सुख, यश और धन-सम्पत्ति की भी मुझे कोई चाह नहीं। भगवान के नाम का उच्चारण मात्र करने से ही मैं समाधिमग्न हो जाता हूँ। स्वयं को भूल जाता हूँ। जानते हो, मैं तुम्हे इतना प्यार क्यो करता हूँ? तुम सब अभी तरुण हो। तुम्हारा मन अभी तक सांसारिक कालिमा से दूषित नहीं हुआ है। भक्ति और सच्चाई के साथ यदि तुम धर्म-साधना करो, तो तुम शाश्वत आनन्द प्राप्त कर लोगे। केवल इसी कारण मैं तुम लोगो को देखने हेतु इतना आकुल रहता हूँ।" दिव्य प्रेम के सागर श्रीरामकृष्ण की इस उक्ति पर मनन करके हम नि:स्वार्थ प्रेम के स्रोत की कल्पना कर सकेगे। ईश्वर ही उस विशुद्ध नि:स्वार्थ प्रेम के स्रोत है।

❖ (क्रमश:) ❖
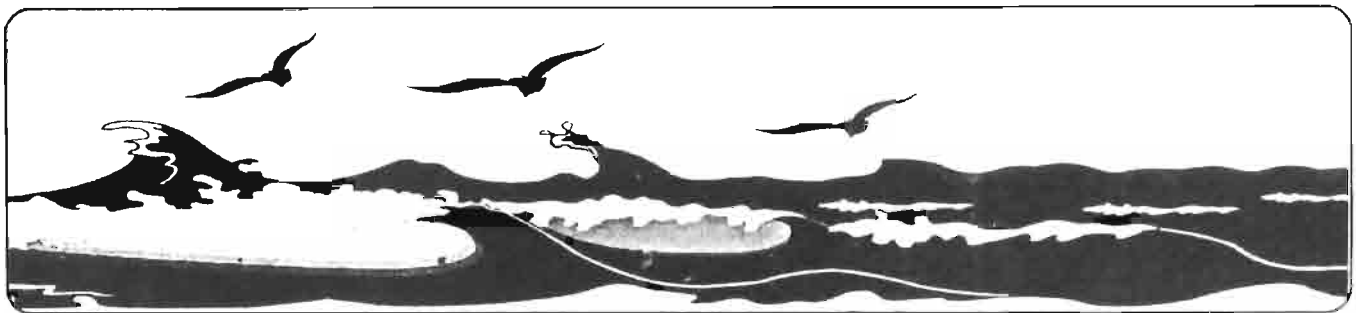
हितोपदेश की कथाएँ (६)

(पिछले अंकों में आपने पढ़ा कि एक बहेलिए ने आकर जंगल में जाल फैलाया, जिसमें कबूतरों का एक झुण्ड फँस गया। कबूतरों का राजा चित्रग्रीव उन्हें जाल के साथ उड़ाकर अपने मित्र हिरण्यक-चूहे के पास ले गया, जिसने जाल को काटकर उन्हें मुक्त कर दिया। लघुपतनक-कौआ ने सब देखा और अनुनय-विनय करके चूहे से मित्रता जोड़ ली। वहाँ भोजन का अभाव देख दोनों दण्डक वन के कर्पूरगौर-तालाब के निवासी मन्थर-कछुए से मिले। फिर तीनो मित्र सुखपूर्वक रहने लगे। तदुपरान्त एक शिकारी के भय से भागकर आया हुआ एक हिरन भी उनकी टोली में सम्मिलित हो गया। फिर मन्थर-कछुआ एक अन्य सरोवर की ओर जाता हुआ एक व्याध के हाथों पड़ गया। बड़ी युक्ति से बाकी तीन मित्रों ने उसकी जान बचाई। इस प्रकार 'मित्रलाभ' नामक प्रथम भाग पूरा हुआ। आगे अब दूसरा भाग है – 'सुहृद्-भेद' अर्थात् मित्रों मे फूट। – सं.)

सुहृद्-भेद

तदुपरान्त राजकुमारों ने कहा – "आर्य! मित्रलाभ के बाद अब हमारी सुहृद्भेद सुनने की इच्छा है।" विष्णु शर्मा बोले – "ठीक है, अब सुहृद्भेद सुनो। इसका पहला श्लोक है –

वर्धमानो महास्नेहो मृगेन्द्रवृषयोर्वने ।
पिशुनेनातिलुब्धेन जम्बुकेन विनाशितः।।

– 'एक वन में सिंह तथा बैल के बीच बढ़ते हुए प्रगाढ़ स्नेह को एक लोभी और चुगलखोर गीदड़ ने नष्ट कर दिया।"

राजपुत्रों ने पूछा – "वह कैसे?"

कथा ७

विष्णु शर्मा बोले – "दक्षिण दिशा में सुवर्ण नाम की एक नगरी है। उसमें वर्धमान नामक एक बनिया रहता था। यद्यपि उसके पास काफी धन था, तथापि अपने अन्य बन्धुओं को और भी धनी देखकर उसने सोचा कि 'अपने धन को और भी बढ़ाना चाहिए। क्योंकि – 'अपने से नीचे की ओर देखने से व्यक्ति अपने को बड़ा महत्त्वपूर्ण समझता है, पर स्वयं से ऊपर की ओर देखने पर लोग स्वयं को निर्धन समझने लगते हैं।' और 'जिसके पास बहुत धन है, वह ब्रह्महन्ता हो, तो भी पूज्य माना जाता है। और चन्द्रमा जैसे उज्ज्वल वंश का भी निर्धन व्यक्ति सर्वत्र अपमानित होता है।' फिर 'निरुद्योगी, आलसी, भाग्यवादी और साहसहीन व्यक्ति को लक्ष्मी वैसे ही नहीं अपनाना चाहती जैसे वृद्ध पति को नववधू।' और भी है –

आलस्यं स्त्रीसेवा सरोगता जन्मभूमि-वात्सल्यम् ।
सन्तोषो भीरुत्वं षड्व्याघाता महत्त्वस्य ।।

– 'आलस्य, स्त्री की सेवा, रोगी होना, जन्मभूमि से मोह, सन्तोष और भय – महानता की प्राप्ति में ये छह विघ्न हैं।'

और 'जो व्यक्ति थोड़े धन से ही अपने को मजे में समझ लेता है, मैं समझता हूँ कि उसका भाग्य भी स्वयं को कृतार्थ मानकर उसकी सम्पदा को नहीं बढ़ाता।' और –

निरुत्साहं निरानन्दं निर्वीर्यमरिनन्दनम् ।
मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत्पुत्रमीदृशम् ।।

– 'निरुत्साही, आनन्दहीन, दुर्बल और अपने शत्रुओं को सुख देनेवाले पुत्र को कोई भी माता जन्म न दे।' कहा भी है –

अलब्धं चैव लिप्सेत् लब्धं रक्षेदवक्षयात् ।
रक्षितं वर्धयेत्सम्यग्वृद्धं तीर्थेषु निक्षिपेत् ।।

– 'जो नहीं मिला है, उसे पाने की इच्छा करे। जो मिल चुका हो, उसे नष्ट होने से बचावे और बचे हुए धन को बढ़ावे और बढ़े हुए धन को भले कार्यों में लगाना चाहिए।'

क्योंकि जो नहीं मिला है, उसकी अभिलाषा नहीं करने से जो अपने पास है, उतना ही रह जाएगा। मिले हुए धन की यदि वृद्धि नहीं की जाएगी, तो वह अपने आप नष्ट हो जाएगा और फिर जो धन बढ़ता नहीं रहता, वह चाहे थोड़ा-ही-थोड़ा क्यों न खर्च किया जाय, समय पाकर अंजन के समान नष्ट हो जाता है और यदि धन का उपयोग न किया जाय तो उसे प्राप्त करना ही व्यर्थ है। जैसा कि कहा भी है –

धनेन किं यो न ददाति नाश्नुते
बलेन किं यश्च रिपून्न बाधते ।
श्रुतेन किं यो न च धर्ममाचरेत्
किमात्मना यो न जितेन्द्रियो भवेत् ।।

– 'उस धन से क्या लाभ जिसका न दान हो और न उपभोग? उस बल से क्या लाभ जिससे शत्रु परास्त न हों? उस शास्त्र-पाठ से क्या लाभ जिसके अनुसार आचरण न हो? और उस व्यक्तित्व से क्या लाभ जो जितेन्द्रिय न हो सके?' क्योंकि –

जलबिन्दुपातेन क्रमशः पूर्यते घटः ।
स हेतुः सर्वविद्यानां धर्मस्य च धनस्य च ।।

– 'जैसे बूँद बूँद जल गिरते रहने से घड़ा क्रमशः भर जाता है, वैसे ही सब विद्या, धर्म और धन भी धीरे धीरे ही बढ़ते हैं।'

'जिस व्यक्ति के दिन दान और भोग किये बिना बीतते हैं, वह लोहार की भाथी के जैसे साँस लेता हुआ भी मृतवत् है।'

ऐसा विचार कर उसने अपने नन्दक और संजीवक नामक दो बैलों को गाड़ी में जोता और उसे बहुत-सी चीजों से भरकर व्यवसाय करने हेतु काश्मीर की ओर चल पड़ा। और भी –

कोऽतिभारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम् ।
को विदेशः सविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम् ।।

– 'समर्थ व्यक्ति के लिए कौन-सी वस्तु भारी है? उद्योगी के लिए कौन-सा स्थान दूर है? विद्वान् के लिए कौन-सा स्थान विदेश है? और प्रिय वाणी बोलनेवाले का कौन शत्रु है?'

इसके बाद राह चलते चलते सुदुर्ग नामक एक विशाल वन में संजीवक-बैल की जाँघ टूट गई और वह वहीं गिर पड़ा। उसे देखकर वर्धमान (वणिक्) ने सोचा – "बुद्धिमान् व्यक्ति चाहे जितना भी प्रयास क्यों न करे, पर उसका फल वही होगा जो विधाता के मन में है। पर सभी कार्यों में संशय ही सबसे बड़ा विघ्न है, अत: समझदार आदमी को चाहिए कि वह संशय को त्यागकर अपने उद्देश्य-साधन में लग जाय।"

ऐसा सोचकर वर्धमान ने संजीवक-बैल को वहीं छोड़कर धर्मपुर गया और वहाँ से एक बड़ा-सा बैल लाकर गाड़ी में जोतने के बाद वह आगे की यात्रा पर चला। वहाँ पड़ा हुआ घायल संजीवक भी थोड़ी देर बाद अपने तीन पाँवों के सहारे उठ खड़ा हुआ। क्योंकि – 'आयु पानी में डूबे, पर्वत से गिरे और तक्षक नाग डसे हुए के प्राणों को भी बचा लेती है।'

न काले म्रियते जन्तुर्विद्धः शरशतैरपि ।
कुशाग्रेणैव संस्पृष्टः प्राप्तकालो न जीवति ।।

– 'काल आए बिना सैकड़ों बाणों से घायल हुआ प्राणी भी नहीं मरता, परन्तु जिसका समय पूरा हो गया है, वह कुशा की नोक छू जाने पर भी परलोक सिधार जाता है।'

कुछ दिनों तक स्वेच्छापूर्वक आहार-विहार करते हुए वन में विचरण करते रहने से बैल संजीवक के अंग हृष्ट-पुष्ट हो गए और वह आनन्दपूर्वक उच्च स्वर में डकराने लगा। उस वन में अपने बाहुबल से उपार्जित राज्य का सुख भोगता हुआ **पिंगलक** नाम का एक सिंह निवास करता था। कहा भी है –

नाभिषेको न संस्कारः सिंहस्य क्रियते मृगैः ।
विक्रमार्जित-राज्यस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता ।।

– 'वन के प्राणी कोई सिंह का राज्याभिषेक नहीं करते; वह तो अपने बल से अर्जित राज्य का स्वयं ही राजा हो जाता है।'

एक दिन वह सिंह अपनी प्यास बुझाने के लिए यमुना-तट पर गया। वहाँ उसने बादलों के गर्जन के समान संजीवक की आवाज सुनी, वैसी दहाड़ कभी उसके सुनने में नहीं आई थी। चकित होकर वह पानी पिये बिना ही लौट पड़ा और सोच में पड़ गया कि 'यह कौन हो सकता है?' उसके सियार-मंत्री के पुत्र करटक और दमनक ने उसे इस प्रकार चुपचाप बैठे देखा।

राजा सिंह को इस तरह भीत-चिन्तित भाव से बैठे देखकर दमनक ने करटक से कहा – "मित्र, महाराज पानी पीने गए थे, पर बिना पिये ही क्यों चुपचाप लौट आए और विस्मित होकर बैठे हैं?" करटक बोला – "भाई, मेरे मतानुसार तो यह सेवा के योग्य ही नहीं है, नहीं तो इस तरह स्वामी की चेष्टा देखने से हम लोगों को लाभ ही क्या है? यह राजा व्यर्थ ही हम दोनों का अपमान करता है और इसके फलस्वरूप हमें घोर दुख झेलने पड़ते हैं। 'देखो, सेवा के द्वारा धन पाने की इच्छा करनेवाले सेवकों ने क्या किया? इन मूर्खों ने तो अपने शरीर की स्वतंत्रता तक गँवा दी।' और भी कहा है –

शीत-वातातप-क्लेशान् सहन्ते यान् पराश्रिताः ।
तदंशेनापि मेधावी तपस्तप्त्वा सुखी भवेत् ।।

– 'पराधीन लोग सर्दी, गर्मी तथा हवा से जो कष्ट सहते हैं, उसके अंशमात्र तप से बुद्धिमान व्यक्ति सुखी हो सकता है।'

और भी – 'किसी के अधीन हुए बिना ही आजीविका चला लेने में ही जन्म की सफलता है। क्योंकि पराधीन लोगों को यदि जीवित समझा जाय, तो फिर मुर्दा किसे कहेंगे!'

और – 'धनी लोग – यहाँ आओ, जाओ, बैठो, खड़े हो जाओ, बोलो, चुप रहो आदि अपमानपूर्ण बातें कह कहकर धनाभिलाषी जनों के साथ विविध प्रकार के खेल खेलते हैं।'

और – 'मूर्ख लोगों ने बाजारू औरतों की भाँति अपने को तरह तरह से दूसरों के काम के योग्य बना रखा है।' फिर – 'स्वभाव से ही चंचल तथा अपवित्र स्थानों पर पड़नेवाली स्वामी की दृष्टि को भी सेवकगण बड़ी मानते हैं।' और –

मौनान्मूर्खः प्रवचनपटुर्वातुलो जल्पको वा
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः ।
धृष्टः पार्श्वे वसति नियतं दूरतश्चाप्रगल्भः
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ।।

– 'सेवक मौन रहे तो मूर्ख कहाता है, वाक्पटु हो तो बातूनी, क्षमा करे तो डरपोक, न सहे तो गँवार, स्वामी के पास रहे तो ढीठ और दूर रहे तो भोंदू माना जाता है। अत: सेवा-धर्म बड़ा कठिन है और योगियों के लिए भी इसे समझना असम्भव है।'

और फिर – 'देखो, सेवक अपनी उन्नति के लिए झुकता है, जीवित रहने की इच्छा से प्राण त्यागने को तैयार रहता है और सुख पाने के लिए सदा दुखी बना रहता है; तो फिर सेवक से बढ़कर मूर्ख भला और कौन होगा?' "

दमनक ने कहा – "मित्र, कभी मन में ऐसी बात न लाना। क्योंकि – 'उन प्रभुओं की सेवा क्यों न की जाय, जो प्रसन्न होकर तत्काल सभी अभिलाषाएँ पूरी कर देते हैं।' और देखो – 'बिना सेवा किए चामर, विराट् सम्पत्ति, लम्बे डंडे का छत्र, हाथी-घोड़े तथा सेनाएँ कैसे मिल सकती हैं?' "

करटक बोला – "तो भी हमें ऐसे कार्यों से क्या मतलब? क्योंकि बेकार के कार्यों से हमेशा बचना चाहिए। देखो – 'जो व्यक्ति बेकार के कार्य करना चाहता है, वह वैसे ही मर जाता है, जैसे वह कील उखाड़नेवाला बन्दर मर गया था।' "

दमनक ने पूछा – "वह कैसे?" करटक कहने लगा –

कथा ८

"मगध देश में धर्मवन के निकट की भूमि में शुभदत्त नाम का कायस्थ एक बौद्ध-विहार बनवा रहा था। वहाँ कुछ बढ़ई लकड़ी के एक लट्ठे को आरे से चीर रहे थे। दोपहर तक उसे

जहाँ तक चीरा जा चुका था, वहाँ काठ की एक कील (पच्चर) ठोककर वे लोग भोजन करने घर चले गए। तभी बन्दरों का एक विशाल झुण्ड उछलता-कूदता वहाँ आ पहुँचा। उनमें से मानो काल द्वारा प्रेरित एक बन्दर उस कील को पकड़कर बैठ गया। उसके दोनों अण्डकोश उस चीरे हुए लट्ठ की दरार में लटक रहे थे। वह अपनी स्वाभाविकता चंचलतावश बड़ी चेष्टापूर्वक उस कील को दरार से बाहर खींचने लगा। कील निकलते ही लकड़ी के दोनों पाटों के बीच उसका अण्डकोश दब गया और उसके प्राण निकल गए। इसी से कहता हूँ – 'बेकार के कार्यों से हमेशा बचना चाहिए' आदि।'' दमनक ने कहा – ''तो भी सेवक को चाहिए कि वह अपने स्वामी की चेष्टाओं को जरूर देखता रहे।''

करटक बोला – ''जिस प्रधानमंत्री को सारा अधिकार दिया गया है, वही यह सब काम करे। क्योंकि सेवक को पराये अधिकार की चर्चा बिल्कुल भी नहीं करनी चाहिए। देखो – 'स्वामी की भलाई की कामना से जो व्यक्ति दूसरे का अधिकार अपने हाथ में लेता है, उसे बाद में वैसे ही पछताना पड़ता है कि जैसे कि चिल्लाने से गधा मारा गया था।'

दमनक ने पूछा – ''यह कैसे?'' करटक कहने लगा –

कथा ९

काशी नगरी में कर्पूरपटक नाम का एक धोबी रहता था। दिन भर के कठोर श्रम के बाद रात में वह बड़ी गहरी निद्रा में सो रहा था। आधी रात के समय एक चोर चोरी करने उसके घर में घुसा। धोबी के आँगन में उसका गधा और कुत्ता – दोनों बँधे हुए थे। चोर को देखकर गधे ने कुत्ते से कहा – ''मित्र, यह तुम्हारा काम है। अब तुम जोरों से भूँककर मालिक को क्यों नही जगाते?'' कुत्ते ने कहा – ''भाई, तुम मेरे काम की फिक्र मत करो। तुम जानते हो कि मैं रात-दिन उसके घर की रखवाली करता हूँ? पर वह मेरी सेवाओं का कुछ ख्याल नहीं करता और खिलाने में प्रमाद करता है, क्योंकि बिना हानि हुए स्वामी अपने सेवकों की तरफ से उदासीन हो जाते हैं।''

गधे ने कहा – ''सुन मूर्ख! जो काम पड़ने पर अपनी माँग उठाता है, वह अच्छा सेवक या मित्र नहीं कहा जा सकता।''

इस पर कुत्ते ने कहा – ''जो काम पड़ने पर ही सेवकों से बात करे, वह मालिक भी तो अच्छा नहीं है। क्योंकि अपने आश्रितों का भरण-पोषण, स्वामी की सेवा, धर्म-पालन और पुत्र उत्पन्न करने में कोई किसी का प्रतिनिधि नहीं हो सकता।''

गधा क्रोधित होकर बोला – ''रे दुष्ट, तू पापी है, क्योंकि विपत्ति के समय स्वामी के कार्य की उपेक्षा करता है। ठीक है, अब मुझे ही कोई उपाय करना पड़ेगा, ताकि मालिक जाग जाय।'' ऐसा कहकर गधा जोरों से रेंकने लगा। इससे धोबी की नींद टूट गई और नाराज होकर उसने लाठी से गधे को ऐसा पीटा कि वह मर गया। इसीलिए कहता हूँ – 'पराये अधिकार की बात करना' आदि। देखो, पशुओं को खोजना ही हमारा काम है, सो अपने काम की बात करो। (कुछ सोचकर) पर आज हमें उसकी चर्चा करने की जरूरत नहीं, क्योंकि हमारे लिए कल का बचा हुआ भोजन ही काफी है।''

तब दमनक ने क्रुद्ध होकर कहा – ''तो क्या आप केवल अपने भोजन के लिए राजा की सेवा करते हैं? आपका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि – 'मित्रों का उपकार और शत्रुओं का अपकार करने के लिए समझदार लोग राजा का आश्रय लेते हैं। वैसे भला अपना पेट कौन नहीं पाल लेता।' और 'जिसके जीने से उसके मित्र और भाई-बन्धु जीवित रहें, उसी का जीना सफल है; अपना पेट पालने के लिए कौन नहीं जीता?'

फिर 'जिसके जीने पर बहुत-से लोग जीवित रहें, उसी का जीना ठीक है। वैसे अपना पेट तो कौए भी चोंच की सहायता से भर लेते हैं।' देखो, 'कोई व्यक्ति केवल पाँच पैसों के लिए ही दास बन जाता है, कोई लाखों की प्राप्ति होने पर ही सन्तुष्ट होता है और कोई तो लाखों के मिलने पर भी नहीं फँसता।' और भी – 'मनुष्य-जाति में अपने समान व्यक्ति का सेवक होना निन्दनीय है। फिर सेवक होकर भी जो सर्वश्रेष्ठ सेवक नहीं हुआ, उसे तो जीवितों में नहीं गिना जाएगा।'

''तथापि कभी कभी थोड़ी-सी वस्तु भी अधिक मानी जाती है। 'मैली, मांसरहित परन्तु जरा-सी चर्बी लगी हुई हड्डी को पाकर ही कुत्ता सन्तुष्ट हो जाता है, जो उसकी भूख मिटाने को पर्याप्त नहीं होती। पर सिंह गोद में आए हुए सियार को भी छोड़कर हाथी का वध करता है। कठिनाई में पड़े हुए लोग भी अपनी योग्यता के अनुसार ही फल पाने के इच्छुक रहते हैं।'

''और स्वामी तथा सेवक का भेद देखो – 'कुत्ता अपने को टुकड़ा देनेवालों के समक्ष पूँछ हिलाना, पैरों पर लोटना, भूमि पर लेटकर मुँह व पेट दिखाना जैसे हेय कार्य करता है, मगर सिंह (पिंजरे में बन्द हो तो भी भोजन देनेवालों को) गम्भीर दृष्टि से देखता है और बहुत खुशामद करने पर खाता है।' और 'ज्ञान, बल तथा यश से युक्त होकर व्यक्ति यदि क्षण भर भी जीवित रह सके, तो ज्ञानीगण उसी का जीवन सार्थक बताते है।' फिर – 'जो व्यक्ति पुत्र, गुरुजनों, भाई-बन्धुओं, सेवकों और दीनों पर दया नहीं करता, उसके जीवन से संसार को क्या लाभ?' और भी – 'जिसकी बुद्धि अपने हित और अहित का विचार नहीं कर सकती और जिसने वेद के बताये नियमों को त्याग दिया है। ऐसे केवल उदर भरने की इच्छा रखनेवाले मनुष्य और पशु के बीच भला क्या भेद है?'

करटक बोला – ''हम दोनों प्रधान नहीं हैं। तो ऐसी बातें सोचने से हमे क्या लाभ?'' दमनक ने पूछा – ''काफी काल

तक प्रयत्न करने के बाद ही साधारण मंत्री प्रधान और अप्रधान मंत्री होते हैं। क्योंकि – 'इस संसार में कोई व्यक्ति स्वभाव से ही किसी के लिए उदार, प्रिय या दुष्ट नहीं होता। व्यक्ति के कर्म ही उसे संसार में गौरव या पतन की ओर ले जाते हैं।'

और 'जैसे पत्थर की सिल्ली बड़े यत्न के द्वारा पर्वत पर चढ़ाई, परन्तु क्षण भर में ही नीचे गिराई जा सकती है। ठीक वैसे ही अपने चरित्र में गुण लाने के लिए बड़े प्रयत्न करने पड़ते हैं, पर दोष आने में देर नहीं लगती।' और 'कुँआ खोदनेवाले के समान मनुष्य अपने (बुरे) कर्मों के साथ ही नीचे उतरता जाता है और चहारदीवारी बनानेवाले के समान अपने (भले) कर्मों के साथ ही ऊपर उठता जाता है।'

"अत: अपने लिए उपाय करने को सभी लोग स्वतंत्र है।'

करटक ने कहा – "आप यह क्या कह रहे हैं?" उसने उत्तर दिया – "मेरे स्वामी पिङ्गलक किसी कारणवश लौटकर विस्मित भाव से बैठे हुए हैं।"

करटक ने पूछा – "तो तुम इसका तात्पर्य समझते हो?"

दमनक ने कहा – "इसमें न समझने का क्या है? कहा भी है – 'कही हुई बात को पशु भी समझ लेता है। घोड़े तथा हाथी भी संकेत से सवारी ढोते हैं। और पण्डित लोग बिना कही हुई बात का भी अर्थ समझ लेते हैं। क्योंकि औरों के भाव को समझ लेना ही बुद्धि का एकमात्र फल है।' और 'आकार, भाव, गति, चेष्टा, बातचीत, नेत्र और मुख की विकृति से मनुष्य के मन की बात जानी जाती है।'

"इस भय के अवसर पर मैं अपनी बुद्धि के बल से प्रभु को अपने वश में कर लूँगा। क्योंकि –

प्रस्तावसदृशं वाक्यं सद्भावसदृशं प्रियम्।
आत्मशक्तिसमं कोपं यो जानाति स पण्डितः ।।

– 'जो प्रसंगोचित बातें, सद्भाव के अनुकूल प्रेम तथा अपनी शक्ति के अनुसार क्रोध करना जानता है, वही ज्ञानी है।'

करटक बोला – "मित्र, तुम सेवा करना नहीं जानते। देखो – 'राजा के पास जो बिना बुलाये जाता है, बिना पूछे बहुत-सी बातें करता है और जो राजा को अपने ऊपर प्रसन्न समझता है, वह मूर्ख है।'

दमनक ने कहा – "मैं सेवा करना कैसे नहीं जानता? देखो – 'संसार की कोई भी वस्तु अपने स्वभाव से ही अच्छी या बुरी नहीं होती। जिसे जो जँच जाय, वही चीज उसके लिए अच्छी हो जाती है।' अत: 'बुद्धिमान मनुष्य का कर्तव्य है कि जिसका जैसा भाव हो, उसी के अनुसार उसके हृदय में घुसकर शीघ्र ही उसे अपने वश में कर ले।'

और भी – 'राजा ज्योंही – यहाँ कौन है? – की आवाज दे, त्योंही – मैं हूँ, आज्ञा दीजिए – ऐसा कहे। और अपनी शक्ति भर राजा की आज्ञा को पूरा करने का प्रयास करे।'

और भी – 'थोड़ी इच्छावाला, धैर्यवान, सर्वदा छाया की भाँति राजा के पीछे चलनेवाला और उसके आदेश का तत्क्षण पालन करनेवाला बुद्धिमान ही राजभवन में रह सकता है।' "

करटक बोला – "बिना काम स्वामी के पास जाने पर कही वे तुम्हारा अपमान न कर दे।" दमनक ने कहा – "अपमान हुआ करे, तो भी स्वामी के पास जरूर जाना चाहिए। क्योंकि – 'दोष होने के भय से कोई काम ही न करना कायरता है। क्या अपच होने के भय से कोई खाना ही छोड़ देता हैं?'

"देखो, 'राजा लोग अपने आसपास रहनेवाले को ही मानते हैं – चाहे वह मूर्ख, अकुलीन अथवा दुराचारी ही क्यो न हो। क्योंकि राजा, स्त्रियाँ और लतायें प्राय: उसी को अपनाती हैं, जो उनके पास रहता है।' "

करटक ने पूछा – "तो आप वहाँ जाकर क्या कहेंगे?" वह बोला – "सुनो, पहले तो मैं यह पता करूँगा कि स्वामी मेरे पर प्रसन्न हैं या अप्रसन्न।" करटक ने पूछा – "इसे जानने का क्या उपाय है?" दमनक बोला – "सुनो, 'दूर से देखना, हँसना, कुछ पूछते समय आदर दिखाना, पीठ पीछे भी गुण का बखान और अपनी प्रिय वस्तुओं की याद करना। सेवक न हो, उससे भी प्रेम करना, मीठी बातों के साथ कुछ देना और दोष से भी गुण लेना – ये प्रसन्न राजा के चिह्न हैं। और समय टालना, झूठी आशाएँ बढ़ाना, परिणाम को व्यर्थ कर देना – बुद्धिमान को इन्हें उदासीन राजा के चिन्ह समझना चाहिए।'

"यह समझकर वह जैसे मेरे वश में हो सके, वैसा ही उपाय करूँगा। क्योंकि – 'बुद्धिमान लोग नीतिशास्त्र की विधियों का उचित दोषों से उत्पन्न हुई हानि और उपायजनित सिद्धि को अपने सामने उपस्थित के समान देखते हैं।' "

करटक ने कहा – "तो भी प्रसंग आए बिना तुम कुछ नहीं कह सकोगे। क्योंकि – 'बृहस्पति भी बिना प्रसंग बातें करने से मूर्ख माने जाते हैं और उनका अपमान होने लगता है।' "

दमनक बोला – "मित्र, डरो नहीं। मैं बिना प्रसंग बातें न कहूँगा। परन्तु – 'आपत्ति में, कुमार्ग में पड़ जाने पर और काम का समय बीत जाने पर स्वामी के हितैषी सेवक का कर्तव्य है कि वह न पूछने पर भी जो उचित समझे, कह दे।' यदि अवसर आने पर भी मैं सलाह न दूँ तो मेरा मंत्रित्व ही व्यर्थ हो जाएगा। क्योंकि – 'जिस गुण से व्यक्ति की जीविका चलती हो और जो सज्जनों द्वारा प्रशंसित होती हो, गुणवान को उस गुण की रक्षा तथा परिवर्धन करते रहना चाहिए।'

"अतएव हे मित्र! मुझे आज्ञा दो। मैं जाता हूँ।" करटक ने कहा – "तुम्हारा कल्याण हो और तुम्हारा मार्ग भी कल्याणमय हो। जाओ, अपनी इच्छानुसार काम करो।'

तब दमनक विस्मित-सा राजा पिंगलक के पास गया।

❖ **(क्रमशः)** ❖

माँ सारदा : नारी-आदर्श की जीवन्त प्रतिमा

स्वामी निखिलात्मानन्द

प्राचीन काल से भारतीय नारी का आदर्श मातृत्व की परिपूर्णता रही है। हिन्दू धर्म के अनुसार ईश्वर ही इस जीव जगत् के निमित्त और उपादान कारण हैं। वे ही अपनी दैवी शक्ति माया के माध्यम से इस जगत् की सृष्टि करते हैं तथा उसमें ओत-प्रोत रूप से व्याप्त हैं। इस तरह ईश्वर इस जगत् के माता और पिता – दोनों ही हैं। जैसे दाहिका शक्ति को अग्नि से भिन्न नहीं किया जा सकता, वैसे ही मायारूपी ईश्वरीय शक्ति ईश्वर से भिन्न नहीं है। इस ईश्वरीय शक्ति को ही हम जगदम्बा, दुर्गा तथा काली आदि विभिन्न नामों से पुकारते हैं। इस दैवी शक्ति और जागतिक माता में सादृश्य है। जिस प्रकार यह शक्ति विश्व ब्रह्माण्ड का सृजन और पालन करती है, उसी प्रकार जागतिक माता भी सन्तान को गर्भ में धारण कर उपयुक्त समय में उसे जन्म देती है तथा उसका पालन-पोषण करती है। अत: नारी भौतिक जगत् में इस दैवी शक्ति का ही प्रतीक है और इसलिए वह सबकी श्रद्धाभाजन है। ईश्वर का प्रेम सबके प्रति नि:स्वार्थपूर्ण, निष्कपट और अहैतुकी है। संसार में इस प्रेम की निकटतम तुलना यदि किसी से की जा सकती है, तो वह माता के प्रेम से। अन्य प्रेम प्रतिदान चाहता है, केवल माँ का ही प्रेम ऐसा है, जिसमें स्वार्थ का लेश तक नहीं। यह ऐसा प्रेम है जो सन्तान के लिए सब प्रकार के सुखों का त्याग करने के लिए तत्पर है, सब प्रकार के कष्टों को झेलने के लिए प्रस्तुत है, यहाँ तक कि यह नरक-यातना की भी परवाह नहीं करता।

भारतीय नारी युगों से इसी महिमा-मण्डित मातृत्व की कामना करती आई है। पश्चिम में पत्नी का सर्वोच्च सम्मान किया जाता है, जबकि भारत में माता का। भारत में माता का नाम नि:स्वार्थता, त्याग, क्षमा, माधुर्य और कोमलता का पर्यायवाची है। सन्तान के कल्याण के लिए माता कितना अधिक कष्ट और त्याग सहन करती है! जब बच्चा गर्भ में रहता है, तो गर्भवती माँ मन्दिर में जाती है, धर्मग्रन्थों का पाठ करती है, सत्संग करती है, मन को अशुभ विचारों से अलग रखती है, ताकि आनेवाला शिशु शुभ संस्कार लेकर आए। भारतीय नारी अपने अधिकार और सुविधा की अपेक्षा अपने कर्तव्य-कर्म को अधिक महत्त्व देती है। किसी विदेशी व्यक्ति को यहाँ की नारी निष्क्रिय प्रतीत हो सकती है। ऐसा लग सकता है कि वह स्वतंत्रता का उपभोग नहीं कर पा रही है। परन्तु उसकी स्वतंत्रता-सम्बन्धी अपनी एक धारणा है। वह अपने को स्वतंत्र तब समझती है, जब वह बिना किसी हस्तक्षेप के अपने घर का काम-काज कर सके, अपने मानदण्ड तथा हैसियत के अनुसार अपने बच्चों का पालन-पोषण कर सके और अपनी आध्यात्मिक साधना कर सके। भारतीय नारी शान्त होती है, पर कमजोर नहीं। उसकी गम्भीर शान्ति और आत्मसंयम के पीछे ऐसी अद्भुत शक्ति है, जिसके समक्ष बड़ी-से-बड़ी ताकत भी नतमस्तक हो जाती है। समय समय पर भारतीय नारी ने अपने आध्यात्मिक सन्त, मनीषी, राजनीतिज्ञ, योद्धा तथा कुशल साम्राज्ञी के रूप में प्रकट किया है। प्राचीन काल की मैत्रेयी, गार्गी, सीता, सावित्री, कुन्ती, दमयन्ती आदि से लेकर वर्तमान काल की मीरा, अहिल्या, लक्ष्मीबाई, अन्दाल आदि इसके कुछ जाज्वल्यमान उदाहरण हैं।

श्रीरामकृष्ण देव ने श्री माँ सारदा देवी को नारी-आदर्श के रूप में गढ़ा था। समस्त नारी जाति के प्रति उनका मातृभाव विश्व के इतिहास में एक अप्रतिम वस्तु है। यद्यपि वे काम-कांचन-त्यागी ईश्वरप्रेम में मतवाले वीतराग संन्यासी थे, तथापि उन्होंने विवाह किया था तथा अन्त तक विश्व को यह दिखलाने के लिए पत्नी को अपने साथ रखा था कि औसत व्यक्ति के लिए विवाह भोग-वासना की वस्तु नहीं, वरन् आध्यात्मिक साधना की वस्तु है, ताकि व्यक्ति आत्म-संयम की शिक्षा ग्रहण कर सके तथा शनै: शनै: सच्चिदानन्द की ओर अग्रसर हो सके। श्रीरामकृष्ण देव का अपनी पत्नी से सम्बन्ध समस्त प्रकार की सांसारिकता से सर्वथा रहित था। किन्तु पत्नी को उन्होंने लोक-व्यवहार तथा सामाजिक उत्तरदायित्व निभाने की सारी शिक्षा प्रदान की। कामारपुकुर और दक्षिणेश्वर के प्रारम्भिक दिनों में उन्होंने पत्नी को घर के समस्त काम-काज के बारे में प्रशिक्षित किया था। यहाँ तक कि उन्होंने लालटेन में बत्ती कैसे लगानी, तरकारी कैसे काटनी, पान के बीड़े कैसे लगाना आदि सामान्य चीजों की जानकारी तक दी थी। फिर उन्हें लोक-व्यवहार की शिक्षा भी दी थी कि घर के विभिन्न सम्बन्धी किस स्वभाव के हैं तथा उनसे कैसा व्यवहार करना चाहिए तथा बाहर के लोगों से कैसा बर्ताव करना चाहिए। इसके साथ ही भगवन्नाम-संकीर्तन की, ध्यान और भजन

की, यहाँ तक कि ब्रह्मज्ञान तक की शिक्षा उन्हें प्रदान की थी। पर इन सबके साथ नारीसुलभ स्वाभाविक लज्जा को सतत बनाए रखने के लिए भी प्रेरित किया था। एक बार जब श्री माँ ने गौरदासी और लक्ष्मी देवी जैसी ईश्वर-कीर्तन में तन्मयता और भावप्रवणता की प्रार्थना की, तो उन्होंने उन्हें यह कहकर इसके लिए प्रोत्साहित नहीं किया कि यह उनकी लज्जाशीलता के अनुरूप नहीं होगा। श्रीरामकृष्ण देव ने उन्हें पत्नी के समस्त अधिकार दिए थे। यहाँ तक कि अपनी ही शय्या पर सोने का अधिकार भी दिया था और एक दिन उन्होंने परीक्षा लेने की दृष्टि से सहसा ही उनसे पूछ लिया, "क्या तुम मुझे संसार में खींचने के लिए आई हो?" श्री माँ ने तत्काल उत्तर दिया, "मैं तुम्हें संसार में खींचने क्यों चली? मैं तो तुम्हारे लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होने आई हूँ।" एक दूसरे दिन श्री माँ भी रात में पैर दबाते दबाते पूछ उठीं, "अच्छा, तुम मुझे किस रूप में सोचते हो?" श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया, "जो माँ (काली) मन्दिर में विराजमान हैं, उन्होंने ही इस शरीर को उत्पन्न किया है और वे नौबतखाने में हैं[१], फिर वे ही इस समय मेरे पैर दबा रही हैं। सचमुच मैं तुम्हें सदा साक्षात् आनन्दमयी के रूप में ही देखता हूँ।"

श्री माँ की परम पवित्रता देखकर श्रीरामकृष्ण अत्यन्त प्रभावित हुए थे। उन्होंने ५ जून, १८७२ ई. को जगदम्बा के षोडशी भाव से श्री माँ की पूजा की तथा अपनी समस्त आध्यात्मिक उपलब्धियों को उनके चरणों में समर्पित कर दिया। इस प्रकार उन्होंने सारे विश्व को दिखा दिया कि सांसारिक सुख-भोग तथा ईश्वरानन्द की अनुभूति – दोनों एक साथ नहीं हो सकतीं। ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के लिए दैहिक सुख का परित्याग करना ही होगा।

समस्त दैहिक तथा भौतिक सम्बन्धों से रहित रहने पर भी श्रीरामकृष्ण का श्री माँ के प्रति व्यवहार अत्यन्त कोमल और श्रद्धा से युक्त था। अपने एक निकटतम सम्बन्धी द्वारा अपमानित होने पर श्री माँ ने इसका उल्लेख करते हुए कहा था, "मैं एक ऐसे पति को ब्याही गयी, जिसने मुझे कभी एक कड़ी बात भी नहीं सुनाई, कभी मेरे भावों को दुःख नहीं पहुँचाया, यहाँ तक कि मुझे फूल से भी नहीं मारा।" श्रीरामकृष्ण श्री माँ की महानता से परिचित थे। उन्होंने कहा था, "वह सारदा है, सरस्वती है, वह संसार को ज्ञान देने आई है। इस बार वह अपना रूप ढँक कर आयी है, ताकि सांसारिक लोग उसे अपनी कलुषित दृष्टि से देखकर पाप के भागी न बनें।" फिर उन्होंने कहा था, "वह ज्ञानदायिनी है, अलभ्य गुणों से युक्त है। क्या वह ऐसी-वैसी है? वह मेरी शक्ति है।" एक बार उन्होंने उपहास के स्वर में कहा था, "वह राख में ढँकी बिल्ली के समान है।" जिस प्रकार राख में लिपटी बिल्ली अपना असली रंग छिपाए रखती है, श्री माँ उसी प्रकार लज्जा, करुणा, दीनता तथा आधुनिकता की आड़ में अपना असली स्वरूप छिपाए रखतीं। इसीलिए तो स्वामी प्रेमानन्द जी ने कहा था, 'श्री माँ को भला कौन पहचान सकता है? वे शक्ति-स्वरूपिणी हैं न, इसलिए उनमें छिपाने की शक्ति भी असीम है। उनमें ऐश्वर्य का तनिक भी प्रकाश नहीं है। श्रीरामकृष्ण में तो विद्या का ऐश्वर्य था, पर माँ में तो उसका लेशमात्र भी नहीं है।"

श्रीरामकृष्ण देव जानते थे कि उनके बाद सारा आध्यात्मिक कार्य श्रीमाँ को जारी रखना है और इसके अनुरूप उन्होंने श्रीमाँ को तैयार भी किया था। बहुत दिनों बाद एक शिष्य ने श्रीमाँ से पूछा था, "माँ, दूसरे अवतारों ने अपनी शक्ति के तिरोधान के पश्चात् ही स्वयं देहत्याग किया था, पर इस बार ठाकुर तुम्हें छोड़कर पहले ही क्यों चले गए?" माँ ने उत्तर दिया, "बेटा, तुम तो जानते हो, वे संसार में सबको मातृवत् देखते थे। वे मुझे सबके बीच इस मातृत्व-भाव के प्रसार हेतु छोड़ गए हैं।"

और सचमुच ही श्रीमाँ ने सर्वदा इस अपूर्व मातृभाव को प्रकट किया था। एक दिन की बात है – श्रीमाँ ठाकुर का रात का भोजन लेकर उनके कमरे के सामने के बरामदे में पहुँची ही थीं कि एक भक्त-महिला ने अचानक भोजन का थाल उनके हाथ से लेते हुए कहा, "माँ, मुझे यह दे दो। मैं इसे ले जाती हूँ।" और वह महिला ठाकुर के सामने वह थाल रखकर चली गईं। ठाकुर भोजन के लिए बैठे। श्रीमाँ भी उनके पास बैठीं। पर ठाकुर भोजन का स्पर्श तक नहीं कर सके। श्रीमाँ की ओर देखते हुए वे बोले, "यह तुमने क्या किया? क्या तुम नहीं जानती, वह चरित्रहीन है? उसके द्वारा अपवित्र किया हुआ भोजन कैसे मैं खा सकता हूँ?" माँ ने कहा, "मैं सब जानती हूँ, पर आज यह खा लो।" तो भी ठाकुर उसका स्पर्श नहीं कर सके। परन्तु श्रीमाँ की विनती सुनकर वे बोले, "अच्छा वचन दो, इसके बाद तुम कभी किसी दूसरे के हाथ खाना नहीं भेजोगी।" श्रीमाँ ने हाथ जोड़कर उत्तर दिया, "यह मैं नहीं कर सकती, ठाकुर! मैं तुम्हारा खाना लेकर अवश्य आऊँगी, पर यदि कोई माँ कहकर प्रार्थना करे, तो मैं अपने को रोक नहीं सकूँगी। फिर तुम केवल मेरे ही ठाकुर तो नहीं, तुम तो सभी के लिए हो।" यह सुनकर श्रीरामकृष्ण प्रसन्न ही हुए और उन्होंने खाना आरम्भ किया।

१.श्रीरामकृष्ण की माता चन्द्रामणि देवी तब नौबतखाने में रहती थीं।

श्रीमाँ में मातृत्व की यह भावना केवल अपने शिष्यों और भक्तों तक ही सीमित नहीं थी; बल्कि वे सभी को अपनी ममतामयी बाँहों में समेटे रहती थीं। ब्रह्मचारी रासबिहारी ने एक दिन उनसे पूछा, "क्या तुम सबकी माँ हो?" श्रीमाँ ने कहा, "हाँ।" – "यहाँ तक कि सभी तुच्छ जीवों की भी?" – प्रश्नकर्ता ने पूछा। श्रीमाँ ने पुनः कहा, "हाँ, सबकी।" एक दिन उनकी भतीजी नलिनी दीदी उन्हें भक्तों का जूठन साफ करते देखकर चीत्कार कर उठी, "अरी माँ, देखो तो यह गैरजात के लोगों की जूठन उठा रही हैं!" यह सुनकर श्रीमाँ ने कहा, "यदि ये गैरजाति के हैं, तो क्या हुआ? ये सब मेरी सन्तानें हैं।"

उनका प्रेम सभी के लिए समान था। धनी, गरीब, ऊँच, नीच – सभी उनके स्नेहभाजन थे। एक धनी महिला ने एक बार धमकी देते हुए कहा कि जब तक अमुक दुश्चरित्र व्यक्ति को माँ के पास दर्शन हेतु आने से नहीं रोका जाएगा, तब तक वे वहाँ नहीं जाएँगी। यह सुनकर श्रीमाँ ने कहा था, "मैं भलों की माँ हूँ और बुरों की भी माँ हूँ।" जब एक पतित महिला ग्लानि एवं पश्चात्ताप की आग में जलती, उनके द्वार के सामने खड़ी भय से काँप रही थी, तो श्रीमाँ ने उसे अपनी ममतामयी बाहों में समेटकर अपने पवित्र स्पर्श से उसके सारे दुख दूर कर दिए थे। जब एक भक्त ने देश-प्रेम के जोश में विदेशी वस्त्र खरीदने से इन्कार किया था, तब विश्वजननी का स्वर फूट उठा था, "आखिर वे (पाश्चात्यवासी) भी तो मेरी ही सन्तान हैं। मैं उन्हें कैसे त्याग सकती हूँ।" बहुत कम ही लोग उस दिन उनके विश्व-प्रेम को समझ पाए थे। सच है, जो समस्त विश्व की जननी हैं, उन्हें किसी एक देश के साथ आबद्ध कैसे रखा जा सकता है? कुख्यात डाकू अमजद उनके लिए वैसा ही बेटा था, जैसा वे स्वामी सारदानन्द जी को मानती थीं।

पति के प्रति उनकी कैसी अनन्य निष्ठा थी! मन-प्राण देकर उन्होंने श्रीरामकृष्ण देव की सेवा की। यह सेवा ही उनके जीवन का सर्वस्व था। यह किसी कर्तव्य की भावना से प्रेरित नहीं था, अपितु ठाकुर के प्रति अटूट प्रेम एवं श्रद्धा के परिणामस्वरूप था। यह केवल उनकी बाह्य सेवा तक ही सीमित नहीं था, वे तो श्रीरामकृष्ण की जीवन-धारा के साथ एकाकार ही हो गयी थीं। स्वामी अभेदानन्द जी ने उनके बारे में सत्य ही लिखा है –

रामकृष्ण-गतप्राणां तन्नाम-श्रवण-प्रियाम्।
तद्भाव-रंजिताकारां प्रणमामि मुहुर्मुहुः ।।

– जिनका मन श्रीरामकृष्ण में समाहित है, जो यह नाम सुनकर प्रसन्न होती हैं तथा जो श्रीरामकृष्ण की भावराशि से तदाकारित हैं, उन्हें बारम्बार प्रणाम है!

श्रीरामकृष्ण के तिरोधान के पश्चात् भी श्रीमाँ का जीवन उनके प्रति सतत समर्पण का जीवन था। कठोर त्याग व तपस्या का जीवन बिताती हुई वे सदैव ठाकुर के आदर्श को आगे बढ़ाते रहीं। वे अधिक समय अपने पैतृक गृह जयरामबाटी में बितातीं। परिवार में सबसे बड़ी होने के कारण छोटे भाइयों तथा वृद्धा माता का भार भी उन्हीं के ऊपर आ पड़ा। उनके कुछ भाई घोर संसारी थे तथा उनके कारण उन्हें जीवन-भर दुख उठाना पड़ा। इनके अतिरिक्त उनकी भतीजी राधू तथा उसकी पगली माँ भी सतत उनकी चिन्ता का कारण रहीं। पर वे शान्त भाव से सब सहती गईं और उनकी सांसारिक सुख-सुविधा का प्रयास करती रहीं।

यही ममत्वपूर्ण प्रेम उनके आध्यात्मिक कार्यक्षेत्र में भी पूर्णरूपेण परिलक्षित हुआ था। काशीपुर में श्रीरामकृष्ण ने दुखभरे शब्दों में कहा था, "क्या तुम कुछ भी न करोगी? क्या इसे ही (अपने शरीर को इंगित करते हुए) अकेले सब कुछ करना होगा?" तब श्रीमाँ ने कहा था, "मैं तो ठहरी स्त्री की जात, मैं क्या कर सकती हूँ?" श्रीरामकृष्ण ने तत्काल उन्हें सुधारते हुए कहा, "नहीं, नहीं, तुम्हें बहुत कुछ करना होगा।" और यह अक्षरशः सत्य हुआ। परवर्ती काल में वे न केवल श्रीरामकृष्ण संघ की अपनी संन्यासी-सन्तानों की मार्गदर्शक शक्ति बनी रहीं, अपितु विशाल जन-समुदाय उनकी कृपा पाकर धन्य हुआ था। उन्होंने सभी जाति और धर्म के लोगों को दीक्षा दी। सभी धर्मों और मतों के प्रति उनकी गहरी आस्था थी। श्रीरामकृष्ण ने इस्लाम, ईसाई आदि विभिन्न धर्मों की साधनाएँ की थीं और श्रीमाँ ने इन विभिन्न धर्म के अनुयाइयों को अपनी सन्तान के रूप में स्वीकार किया। इस प्रकार वे श्रीरामकृष्ण के उपदेशों की जीवन्त प्रतीक बन गई थीं। जघन्य पापी भी उनकी कृपा प्राप्त करने से वंचित नहीं रह पाए। इसके पीछे पात्रता का विचार नहीं था। इसके पीछे था, उनका अनन्त वात्सल्य प्रेम। वे कहतीं, "पापियों और दुखियों का भार और कौन ग्रहण करेगा?" बाद के काल में जब किसी दिन कोई भी कृपाप्रार्थी उनके पास नहीं पहुँच पाता था, तो वे शान्त स्वर में ठाकुर से प्रार्थना करतीं, "दिन बीत गया, आज कोई व्यक्ति नहीं आया। क्या तुमने मुझसे नहीं कहा था कि तुम्हें प्रतिदिन कुछ-न-कुछ करना ही होगा?" दीन-दुखी, पापी-तापी सभी पर उन्होंने बिना किसी भेदभाव के कृपा का वर्षण किया था। स्वामी प्रेमानन्द जी ने ठीक ही कहा था, "हम लोग श्रीमाँ के पास ऐसा विष भेज रहे हैं, जिसे ग्रहण करने का साहस हम स्वयं नहीं कर सकते। वे

सभी को आश्रय दे रही हैं। सभी के पाप ग्रहण कर रही हैं और उसे पचा ले रही हैं।''

इस प्रकार श्रीमाँ ने एक साथ ही आदर्श पत्नी, आदर्श माँ और आदर्श संन्यासिनी का जीवन बिताया। उनके पूर्व भी संसार में ऐसी नारियाँ हुई हैं, जो आदर्श पत्नी, माता या संन्यासिनी के रूप में पूजित हुई हैं; पर एक ही चरित्र में तीनों आदर्श अपनी चरमावस्था को प्राप्त हुए हों, ऐसा दृष्टान्त विश्व के इतिहास में अप्राप्य है। ''श्रीमाँ भारतीय नारीत्व के आदर्श पर श्रीरामकृष्ण की अन्तिम वाणी हैं'' – भगिनी निवेदिता का यह कथन अक्षरश: सत्य है। इतना ही नहीं, वे तो विश्व-नारी के आदर्श की जीवन्त प्रतीक भी कही जा सकती हैं।

यद्यपि वे प्राचीन भारतीय परम्परा की पक्षधर थीं, तथापि उनका दृष्टिकोण अत्यन्त विशाल और उदार था, और नवीन कल्याणकारी विचारों को ग्रहण करने में सतत तत्पर था। प्राचीन धार्मिक रीति-रिवाजों के प्रति उनकी श्रद्धा, अन्धविश्वास तथा कट्टरता से सर्वथा रहित थी। धर्मान्धता का उसमें लेश तक न था। वे वर्तमान भारतीय नारी की आकांक्षाओं से पूर्णरूपेण परिचित थीं तथा उसकी सीमाओं और दोषों के प्रति सचेत थीं। वे भलिभाँति जानती थीं कि भारतीय नारी किस प्रकार युगों से प्रताड़ना और दमन का शिकार रही है। और इसीलिए वे उसे पुन: अपने पुरातन गरिमा और पावित्र्य के पद पर आरूढ़ कराने के लिए सतत प्रयत्नशील थीं।

समस्त सामाजिक परम्पराओं तथा रीति-रिवाजों के प्रति उनके मन में आदर का भाव था। उन्होंने त्याग और तितिक्षा का जीवन अपनाया था, किन्तु वे जीवन-भर एक गृहिणी भी बनी रहीं। धर्म के नाम पर शरीर को कष्ट पहुँचाने में उनका विश्वास नहीं था। अपनी अल्प-वयस्का विधवा शिष्याओं के लिए उन्होंने भोजन-सम्बन्धी कठोर नियम शिथिल कर दिए थे। इसी प्रकार वे शुचिबाई से बचे रहने को कहतीं। नलिनी देवी को शुचिबाई की सनक थी, उनसे उन्होंने कहा था, ''जब तक मनुष्य ने अनेक पाप न किए हो, मन तब तक अपवित्र नहीं होता। गाँव में कई बार मेरे पैर सुखी टट्टी पर पड़ जाते, तब मैं दो बार गोविन्द का नाम लेती और सब कुछ पवित्र हो जाता। सब मन में ही है – पवित्रता, अपवित्रता सब कुछ मन में ही है।''

आधुनिक दृष्टि से यद्यपि श्रीमाँ अशिक्षित थीं, तथापि वे उदार विचारों, सुसंस्कृत आचारों तथा तीक्ष्ण-सूक्ष्म बुद्धि से युक्त थीं। भगिनी निवेदिता ने उनमें 'नवीन धार्मिक अनुष्ठानों की तह में प्रवेश करने की' अद्भुत शक्ति देखी थी। एक बार जब उनके सामने भगिनी निवेदिता और एक विदेशी महिला द्वारा ईस्टर का संगीत गाया जा रहा था, तो उन्होंने 'पुनरुज्जीवन गान' (Resurrection hymn) के प्रति बिना किसी संकोच और अजनबीपने के, बड़ी आन्तरिकता और सहानुभूति प्रकट की तथा जब उन लोगों ने उनके सामने पाश्चात्य विवाह में ली जानेवाली शपथ का वर्णन किया कि अच्छे या बुरे, अमीरी या गरीबी, तन्दुरुस्ती या बीमारी, सभी अवसरों पर हम मृत्युपर्यन्त साथ रहें, तो वे सुनकर बोल उठीं – ''ये धार्मिक शब्द हैं।''

स्त्री-शिक्षा के प्रति उनका बड़ा अनुराग था। भगिनी निवेदिता को उन्होंने स्त्री शिक्षा के कार्य में अपना आशीर्वाद दिया था। भगिनी सुधीरा को उन्होंने निवेदिता के कार्य को जारी रखने के लिए प्रोत्साहित किया था और शिक्षण का कार्य करके कन्या छात्रावास को आर्थिक सहायता देने की सलाह दी थी। अपनी एक शिष्या को उन्होंने 'प्रसूति-विज्ञान' सीखने को प्रेरित किया, ताकि अनेकों का कल्याण हो सके। वे वास्तव में चाहती थीं कि भारतीय कन्याएँ अधिक उम्र में विवाहित हों, अधिकाधिक शिक्षित हों, स्वावलम्बन तथा नेतृत्व की क्षमता प्राप्त करें और त्याग एवं पवित्रता का जीवन बिताने के लिए विवाह करने को मजबूर न की जायँ, परन्तु वे चाहे कैसी भी जीवन-धारा क्यों न अपनाएँ, वे शाश्वत नारीत्व के प्रति, मातृत्व के आदर्श के प्रति निष्ठावान बनी रहें और सही मायने में नारी संस्कृति का निर्माण करें, जो केवल पुरुष-शासित समाज का अनुकरण मात्र न हो।

इस प्रकार श्रीमाँ सारदा देवी सभी दृष्टियों से नारी आदर्श की जीवन्त प्रतीक रहीं और उनका पूत पवित्र जीवन आनेवाले युगों में मानव-समाज का मार्गदर्शन करता रहेगा।

(रामकृष्ण आश्रम, बीकानेर की स्मारिका से साभार)

पुरखों की थाती (१२)

आरम्भ-गुर्वी क्षयिनी क्रमेण,
लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात्।
दिनस्य पूर्वार्ध-परार्ध-भिन्ना
छायेव मैत्री खल-सज्जनानाम्॥

– दुष्टों तथा सज्जनों की मित्रता में वैसा ही भेद होता है, जैसा कि दिन के पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध की छायाओं में। दुष्टों की मित्रता पूर्वार्ध की छाया की भाँति शुरू में तो बड़ी रहती है, परन्तु क्रमश: घटती जाती है; दूसरी ओर सज्जनों की मित्रता उत्तरार्ध के छाया के समान पहले छोटी और फिर क्रमश: बढ़ती जाती है।

धनोपार्जन का पुरुषार्थ

भैरवदत्त उपाध्याय

धनोपार्जन लोक-जीवन का परम पुरुषार्थ है। इसकी गणना जीवन के चार लक्ष्यों में की गई है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष – चार पुरुषार्थ हैं। इन्हें पुरुषार्थ-चतुष्टय भी कहा जाता है। जीवन को चार आश्रमों में विभाजित किया गया है और चार वर्गों में। पुरुषार्थ अर्थात् जीवन के लक्ष्य भी चार हैं, जिनकी साधना जीवन भर करनी है। धर्म तथा मोक्ष – जीवन के आरम्भिक तथा अन्तिम लक्ष्य हैं। इनका सम्बन्ध लोकोत्तर जीवन से है। अर्थ एवं काम इसी जीवन से सम्बद्ध हैं, पर भूखा पेट काम के लिये चेष्टा नहीं करता। **बुभुक्षितः किं न करोति पापम्** – भूखा आदमी कौन-सा पाप नहीं करता। अर्थ और काम, धर्म से अनुशासित होते हैं, इसीलिए दोनों के पहले इसका परिगणन है। अनियंत्रित अर्थ व काम नरक के द्वार खोलते हैं। क्रोध, ईर्ष्या, राग-द्वेष, अहंकार, मोह आदि इनका परिवार है। पशु जीवन में केवल काम है; परन्तु मानव जीवन अर्थ और काम से परिचालित है। इन्हीं के वशीभूत है। धर्म ही इन्हें मानवता प्रदान करता है। संस्कार देता है। संस्कृति का उपादान देता है – **धर्मेण हीनः पशुभिः समानाः** – धर्म के बिना मनुष्य पशु जैसा है। पूँछ और सींग भर नहीं है। अर्थ व काम की चाहत से इसकी उद्धतता बढ़ जाती है और उसका संयमन धर्म से होता है।

धन ही जीवन की धुरी है। जीवन की गाड़ी तभी दौड़ती है, जब अर्थिक दशा सुदृढ़ हो। इसके बिना सारे प्रयास व्यर्थ हैं। अर्थ क्या है? जीवन-यात्रा हेतु कुछ साधनों की जरूरत होती है। इनकी पूर्ति के लिये वस्तु या मुद्रा चाहिए, जिसके बदले में क्रेता की क्षतिपूर्ति हो सके और आवश्यकता होने पर वह उन वस्तुओं या मुद्राओं का उपयोग कर सके। पुरा काल में गाय या अनाज प्रमुख धन था, जिनसे आवश्यक वस्तुओं का विनिमय होता था। गो, पशु, अनाज आदि को धन मानते थे, आज प्रतीकात्मक रूप से वे रुपये या डॉलर हैं। सोना, चाँदी, घर, दुकान, खेती-बाड़ी, घोड़ा-गाड़ी तथा अन्य वस्तुएँ भी धन हैं। इसके बदले मुद्रा लेकर बैंक में जमा किया जा सकता है और आवश्यकतानुसार निकाला भी जा सकता है।

इस युग का बच्चा पहले रुपये को जान जाता है, ईश्वर को नहीं। ईश्वर बूढ़े माँ-बाप के सहारे हैं। उन्हें ही जानना है। भगवान से पहले लक्ष्मी की पूजा होती है। लक्ष्मीपति वह स्वयं बन जाता है। वह मूल लक्ष्मीपति को भूल जाता है। वह लक्ष्मीपति – भगवान तो नहीं बन सकता, पर लक्ष्मी का वाहन उल्लू जरूर बन जाता है। लक्ष्मी स्वर्गीय सुखों के सागर में डुबो देती है। मनुष्य सोचता है – मैं सुख-सागर में सोनेवाला विष्णु हूँ। लक्ष्मी मेरे साथ सदा रहनेवाली है। मानव लक्ष्मी चाहता है। भोग चाहता है। ऐहिक जीवन का लक्ष्य यही है।

धन से सुख मिलता है। इसलिए अधिक-से-अधिक धन चाहता है – **भूमा वै सुखं नाल्पे सुखमस्ति** – अधिक में सुख है, अल्प में नहीं। वैदिक ऋषि कामना करते थे – **बहवः गावः मे भवन्तु, वीराः पुत्राः मे भवन्तु** – मेरे पास बहुत-सी गायें हों, मेरे वीर पुत्र हों आदि आदि। वैदिक ऋषि अर्थवादी थे। अर्थ की महत्ता से परिचित थे। वे जानते थे कि सांसारिक सम्बन्ध अर्थ पर आधारित है। पति-पत्नी, पिता-पुत्र, माता-पुत्र, भाई-भाई, भाई-बहन, देवर-भाभी, सास-बहू, ससुर-बहू, ससुर-जमाई तथा मित्र-मित्र आदि सम्बन्ध अर्थ पर चलते हैं। केवल भावनाओं का कोई अर्थ नहीं है। सारे सम्बन्ध तास के महल जैसे धराशायी हो जाते हैं। वैदिक युग से लेकर आज तक जितने भी युद्ध हुए, उनके पीछे अर्थ तथा काम है। महाभारत के युद्ध में दुर्योधन को हस्तिनापुर की गद्दी का लोभ था। कैकेयी में भी, पुत्र राजा बने, यह आकांक्षा थी। घर से राजद्वार तक अर्थ का संघर्ष था। जर, जोरू और जमीन का द्वन्द्व सर्वत्र है। इसमें सन्तुलन धर्म से ही आ सकता है।

अर्थ की गरिमा सर्वत्र है। अर्थ कौन नहीं चाहता? किसे अर्थ की जरूरत नहीं होती? डाका, चोरी, रिश्वतखोरी, राहजनी, ठगी, मुनाफाखोरी, मिलावट, करापवंचन आदि अर्थ-संचय के लिए ही होते हैं। ये सब अपराध हैं। अधर्म हैं। धर्म इन्हें स्वीकार नहीं करता। समाज को ये ग्राह्य नहीं है। यद्यपि समाज विघटन के कागार से गुजर रहा है। आज की दशा यह है कि 'बाप बड़े न भैया, सबसे बड़ा रुपैया।' यह स्थिति क्यों न हो? बिना पैसे भोजन-वस्त्र, आवास-विवाह, आना-जाना, लोक-व्यवहार आदि हो ही नहीं सकते। आशय स्पष्ट है कि बिना अर्थ के जीवन-यात्रा नहीं हो सकती। कहा भी है –

प्रथमे नार्जिता विद्या, द्वितीये नार्जितं धनम्।
तृतीये नार्जितं पुण्यं, चतुर्थे किं करिष्यति ।।

ब्रह्मचर्याश्रम में जिसने विद्या ग्रहण नहीं की। गृहस्थाश्रम में धन नहीं कमाया और तृतीय अवस्था अर्थात् वानप्रस्थ आश्रम में पुण्य का संचय नहीं किया तो उससे चतुर्थ आश्रम में क्या आशा की जा सकती है कि कुछ करेगा? अर्थात् कुछ नहीं। अब आश्रम केवल एक है। उसमें अर्थ की जरूरत है। कोई कहे कि एक दिन में ही धनपति बन जाऊँगा। कोठी-कार सब रातो-रात हो जाएगा। यह शेखचिल्ली की कल्पना है। बिना श्रम के, बिना प्रतीक्षा के यह साध पूरी नहीं होती। बूँद बूँद से घड़ा भरता है। प्रत्येक क्षण के उपयोग से विद्या आती है –

कणशः क्षणशश्चैव विद्यामर्थं च संचयेत् ।
क्षणत्यागे कुतो विद्या कणत्यागे कुतो धनम् ।।

एक अनुभवसिद्ध कवि की उक्ति है –

पूत सपूत तो क्यों धन संचय ।
पूत कपूत तो क्यों धन संचय ।।

यदि पुत्र सुपुत्र हो तो बहुत-सा धन कमा लेगा और पुत्र कुपुत्र हुआ तो एकत्र किया हुआ धन भी नष्ट हो जाएगा। अत: पिता को अगली पीढ़ी के लिये धन-संग्रह की चिन्ता नहीं होनी चाहिए। भगवान उतना ही देते रहें, जिसमें कुटुम्ब का पालन हो जाय और साधु-सन्तों की सेवा भी हो सके –

साईं इतना दीजिये जामे कुटुम्ब समाय ।
मैं भी भूखा न रहूँ साधु न भूखा जाय ।।
पानी बाढ़े नाव में, घर में बाढ़े दाम ।
दोऊ हाथ उलीचिये यही सयानो काम ।।

धन का परिग्रह मत करो। यह विग्रह का मूल है। अनेक ग्रह हैं। धन हो तो दान कर दो, क्योंकि यह सदुपयोग है, अन्यथा धन का क्षय होना तो सुनिश्चित है। सुक्ति है –

दानं भोगो नाशस्तिस्त्रः गतयो भवन्ति वित्तस्य ।
यो न ददति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ।।

धनोपार्जन अच्छा है, पर उसका स्रोत अच्छा होना चाहिए। गलत साधनों से इकट्ठा किया गया धन पतन का मार्ग प्रशस्त करता है। स्मृतिकार मनु ने कहा था – **योऽर्थशुचिः स शुचिः**। जिसका साधन पवित्र है, वही पवित्र है। अनीति से अर्जित धन भोगों की ओर प्रवृत्त करता है और भोगों से ध्वंस होना स्वाभाविक है। इसका अर्थ यह नहीं है कि आज का कमाया धन आज ही खर्च कर दें। भविष्य के लिये भी संग्रह अति आवश्यक है। दरिद्र के पास धन नहीं होता। भगवान ने उसे सबसे बड़ा दु:ख दिया है। सन्त तुलसीदास जी ने इसकी अनुभूति की थी – **नहिं दरिद्र सम दु:ख जग माही**। निर्धन के पास रुपया नहीं होता, अन्य वस्तु नहीं होती, जिसके बदले में अपेक्षित वस्तु खरीद सके। भोजन प्राप्त कर सके। अस्वस्थ होने पर औषधि ले सके।

टका धर्मः टका कर्म टका हि परमं तपः ।
यस्य पार्श्वे टका नास्ति हा टके टकटकायते ।।

समाजिक अर्थशास्त्रियों ने यह तर्क दिया है कि भारत जैसा देश सम्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ के लोग सन्तोषी हैं और सन्तोष को परम सुख मानते हैं – **सन्तोषं परमं सुखम्**। साथ ही यह भी कहा जाता है कि –

गोधन गजधन बाजिधन और रतनधन खान ।
जब आवे सन्तोष धन सब धूरि समान ।।

एक अन्य सन्त कहते हैं –

रूखा सूखा खाय के ठण्डा पानी पीव ।
देखि पराई चूपड़ी क्यों ललचावै जीव ।।

आत्म-सन्तोषी, आत्म-विश्वासी, भाग्यवादी और आलसी जैसे गुण हैं, जिनसे धन के प्रयास में धक्का लगता है। हम ब्राह्मण हैं। क्षत्रिय हैं। हल क्यों चलायें? श्रम करना हमारा धर्म नहीं है। हमारे भाग्य में जो लिखा है, वह मिलेगा। ईश्वर ने जन्म दिया है, तो भोजन की व्यवस्था भी करेगा –

अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम ।
दास मलूका कहि गये सबके दाता राम ।।

मलूक जी के शिष्यों की दशा यह होती है कि उन्हें दर दर की ठोकरें खानी पड़ती हैं। जीवन का लोकाचार बिना पैसे नहीं आ सकता। इन्हीं समस्याओं के आधार पर उन विद्वानों का विचार हुआ होगा। कुछ समाज-वैज्ञानिकों का मत यह भी रहा है कि समाज में जब से पूँजी का जन्म हुआ है, तभी से आर्थिक विषमता जन्मी है। व्यक्तिगत स्वामित्व की होड़ ही इसकी जड़ है। आदिम समाज में यह व्यवस्था नहीं थी, इसलिए सभी लोग सुखी थे। साम्यवाद इसी पुरानी व्यवस्था को पुन: लाना चाहता है। समस्त सम्पत्ति का स्वामी राज्य हो। व्यक्तिगत पूँजी किसी की न हो। इस पुरातन व्यवस्था का पक्षपाती विशेषत: रूस और चीन हैं। भारत के जनवादी संगठन भी इसी विचारधारा को मानते हैं। नक्सलवादी आन्दोलन इसकी चरम परिणति है, जिसके मूल में हिंसा है। क्योंकि साम्यवाद की मान्यता है कि अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये पूँजीपतियों की हत्या हो जाय, तो आपत्तिजनक नहीं है। यह अर्थ का एक पहलू हुआ।

पूँजी का दूसरा रूप भी है। यद्यपि इसे सर्वहारा वर्ग के मताग्रही लोग पूँजीवाद का मुखौटा बोलते हैं। सचमुच में यह पूँजी के काम के साथ उद्भूत हुआ एक रूप है। देवदासी, नगरवधू, गणिका, कोठेवाली, राजस्थान की गोली प्रथा, काल गर्ल्स आदि इसके रूप हैं। दासी तथा दास इसके नाम हैं। इसका अर्थ है कि धर्म की पकड़ ढीली हुई है। मानवीय मूल्य कमजोर हुए हैं। अर्थ सम्पूर्ण आवश्यकताओं का शास्त्र है। आवश्यकताओं का बोझ कम हो – यही उद्देश्य है। पर ये सब अटकलें हैं। सही बात यह है कि जीवन में अर्थ का गौरव कम नहीं होता। संसार में जब तक निर्धन लोग रहेंगे, काम ताण्डव करेगा। जड़ताशून्य विवेकवादिता यह है कि हम धर्म-सम्बलित अर्थ का उपार्जन और उपयोग करें। जब तक संसार में दीन-हीन, दुर्बल और दरिद्र लोग रहेंगे तब तक दरिद्र-नारायण की सेवा की आवश्यकता होगी और इसी से मोक्ष सम्भव होगा। इनकी सेवा में अपने अर्थ का विनियोग करें। जीवन की नौका क्या बिना अर्थ-सरिता के नहीं चलती? अर्थ को घृणित मानने की भूल न करें। अधिक होने पर दुष्कर्म में न लगाएँ। जीवन का लक्ष्य यही है। ❑❑❑

वशिष्ठ गुफा के योगी

स्वामी आत्मानन्द

मार्च का महीना था। मैं साधना करने के उद्देश्य से ऋषिकेश-स्थित स्वर्गाश्रम में निवास कर रहा था। राजयोग के सम्बन्ध में मैंने कई ग्रन्थ पढ़े तो थे, पर उसकी साधना का अवसर प्राप्त नहीं हो सका था। ग्रन्थों में पढ़ा था कि योग्य गुरु की प्रत्यक्ष देख-रेख में ही योग की साधना करनी चाहिए, अन्यथा प्रतिकूल परिणाम की सम्भावना रहती है। इसलिए प्राणायाम की सरल क्रियाओं को करता हुआ ईश्वर की कृपा की आस लगाये बैठा था कि मुझे मार्गदर्शन मिल जाय। मेरी यही इच्छा मुझे स्वर्गाश्रम की ओर खींच ले गई थी। कई नामधारी महात्माओं से मिला, पर कुछ दिन उनके सान्निध्य में बिताने पर लगता कि यहाँ अभिलाषा पूर्ण न हो सकेगी। मैं कुछ निराश भी हो चला था कि सहसा एक दिन मैंने वशिष्ठ गुफा के योगी की बात सुनी। आशाजनक बात थी वह। सुना कि उनका नाम स्वामी पुरुषोत्तमानन्द है और वे लोकैषणा से दूर वशिष्ठ गुफा में रहकर योग-साधना में निमग्न रहा करते हैं।

फिर क्या था, निकल पड़ा। वशिष्ठ गुफा ऋषिकेश से लगभग १५ मील दूर है। देवप्रयाग की ओर जानेवाली पक्की सड़क से जाना पड़ता है। बसवालों से वशिष्ठ गुफा का नाम बता देने पर वे वहीं उतार देते हैं। वहाँ पहाड़ के नीचे उतरना पड़ता है। वह गुफा गंगाजी के किनारे स्थित है। सड़क से थोड़ा आगे जाकर ऊपर की ओर वशिष्ठ गुफा का विद्यालय है और पोस्ट ऑफिस। गुफा से विद्यालय तक की दूरी लगभग ६ फर्लांग पड़ जाती होगी। चारों ओर बियावान जंगल है – जंगली जानवरों से भरपूर। पास में कोई गाँव भी नहीं है।

दोपहर के समय मैं वशिष्ठ गुफा पहुँचा। बड़ी विशाल गुफा है वह। पुराणों में इसका उल्लेख आया है। पुराणों के अनुसार तो गुफा चौदह मील लम्बी थी, पर अभी वह इतनी लम्बी नहीं है। अब तो मुश्किल से चार फर्लांग होगी। किन्तु इसका बहुत-सा हिस्सा नमी के कारण बन्द कर दिया गया है। सामने की चौड़ाई भी उल्लेखनीय है। अब आश्रमवासियों ने गुफा को जो रूप दे दिया है, उसमें अनायास पचास व्यक्ति सो-बैठ सकते हैं। गुफा के द्वार में कोई फाटक या दरवाजा नहीं है। आश्रमवासियों से सुना कि स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी प्राय: चालीस वर्ष से वहीं हैं। उस समय गुफा और चारों ओर का दृश्य और भी भयानक था। साँप और बिच्छू तो मैं गया तब भी बहुत थे। चालीस वर्ष पहले का पूछना ही क्या! स्वामीजी प्रारम्भ में अकेले ही रहे। उनके बारे में आश्रमवासियों से मुझे जो जानकारी प्राप्त हो सकी, वह संक्षेप में इतनी ही है कि उन्होंने दक्षिण भारत के प्रदेशों में कई स्थानों पर श्रीरामकृष्ण आश्रम की स्थापना की। इन्होंने रामकृष्ण मठ व मिशन के प्रथम अध्यक्ष श्रीमत्स्वामी ब्रह्मानन्द जी महाराज से मंत्रदीक्षा ली थी और बाद में मठ के द्वितीय अध्यक्ष श्रीमत्स्वामी शिवानन्द जी से संन्यास-दीक्षा लेकर ये हिमालय की इस गुफा में साधनामय जीवन बिताने चले आए। उस समय पुरुषोत्तमानन्द जी की आयु लगभग चालीस वर्ष की थी। जिन कठोरताओं में से उनका जीवन बीता है, उसका वर्णन कर पाना सम्भव नहीं है। उस समय आज के समान बनी-बनायी सड़क नहीं थी। पैदल का मार्ग था, जो अतीव दुस्तर था और नदी के उस पार से चलता था। यही वह पैदल मार्ग था, जिस पर से उस समय के लोग बदरी-केदार की यात्रा करते थे और आज भी आपको कई ऐसे भावुक एवं तपस्याप्रिय जन मिलेंगे, जो इसी रास्ते से बदरी-केदार की यात्रा करना पसन्द करते हैं।

हिमालय की तराई अजगर, रीछ, वन्य हाथी और तेंदुओं के लिए प्रसिद्ध है। स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी को बहुधा इनका सामना करना पड़ता। जैसा कहा जा चुका है, गुफा के द्वार में कोई फाटक तो था नहीं, अत: कई बार ऐसा हुआ कि रात में वर्षा के थपेड़ों से बचने के लिए वन्य पशु भी गुफा के भीतर स्वामी जी के समीप ही जा बैठते। पर ऐसा कभी न हुआ कि वन्य पशुओं ने स्वामी जी को किसी प्रकार की हानि पहुँचायी हो। भिक्षा के हेतु भी स्वामी जी को बड़ी कठिनाई उठानी पड़ती थी। जब अनाज चुक जाता, तो वे ऋषिकेश की ओर निकल जाते और एक-डेढ़ महीने के लिए एक साथ भिक्षा ले आते। उन्होंने वहाँ के अपने प्रारम्भिक दिनों में उस अंचल की गरीबी तथा अज्ञानता देखी। उदारचेता इस संन्यासी का हृदय द्रवित हो उठा। उन्होंने एक पाठशाला खोल दी, जहाँ समय निकालकर वे पहाड़ी बालकों को शिक्षा दिया करते थे। आज उस पाठशाला ने बड़ा रूप धारण कर लिया है। स्वामी जी ने अब उसे प्रान्तीय शासन को सौंप दिया है।

मैं जब वशिष्ठ गुफा पहुँचा, तब स्वामी जी अस्सी वर्ष के हो चुके थे, अर्थात् वहाँ रहते उन्हें दीर्घ चालीस वर्ष बीत चुके थे। आश्रमवासियों से उपरोक्त जानकारी प्राप्त कर मैं स्वामी जी के दर्शन प्राप्त करने के लिए और अधिक आतुर हो उठा। आश्रमवासियों ने बताया कि लगभग तीन बजे वे अपनी कुटी से इस गुफा में आते हैं और आश्रमवासियों को धर्मशास्त्रों का अध्ययन कराते हैं। लगभग तीन वर्ष पूर्व तक स्वामी जी गुफा में ही निवास करते थे। अपने समीप किसी सेवक या शिष्य को अधिक दिन तक नहीं रखते थे। जो कोई भी साधना की यथार्थ इच्छा लिए उनके पास पहुँचता, उसे वे कुछ काल साथ

रखकर साधना के सम्बन्ध में मार्ग-दर्शन करते और बाद में उत्तरकाशी-स्थित अपने 'मंगल-आश्रम' में कठोरतर साधना के लिए भेज देते। स्वामी जी एकाकी साधना पर अधिक बल देते थे। तीन वर्षों से उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं चल रहा था। वृद्ध शरीर कितना सहे! जलवायु के परिवर्तनों से वह आक्रान्त हो जाता था। वैसे भी गुफा में बड़ी नमी थी। स्वामी जी गठिया से ग्रस्त हो गए। भक्तों ने जोर दिया कि उनके लिए अलग पक्की कुटी बना दी जाय, ताकि गठिया अधिक पीड़ा न दे। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर अन्त में वे मान गए। उनके लिए गुफा के सामने ही कुछ ऊँचाई पर एक पक्की कुटी बना दी गई – दो मंजिलों की। नीचे की मंजिल में दो कमरे हैं, जिनमें आगन्तुक दर्शनार्थी जन रहा करते हैं। ऊपर की मंजिल में स्वामी जी का निवास-स्थान रखा गया। अब भक्तों ने प्रार्थना की कि वे कुछ लोगों को अपने पास ही रहने दें, ताकि उनकी देखभाल और सेवा में सुविधा हो सके। उन्होंने यह भी प्रार्थना स्वीकार कर ली। तब से आश्रम में पाँच-छह सेवकों का स्थायी निवास होने लगा। स्वामी जी भी अब इन लोगों को शास्त्राध्ययन कराने तथा साधनामय जीवन में प्रवृत्त करने के लिए अधिकाधिक प्रयत्न करने लगे।

आश्रम के व्यवस्थापक ने पक्की कुटी के नीचे के एक कमरे में मेरी व्यवस्था कर दी। मैं अधीर होकर तीन बजने की प्रतीक्षा करने लगा। अन्त में सौभाग्य की वह घड़ी उपस्थित हुई। स्वामी जी के कमरे के द्वार खुले। देखा, सामान्य कद के एक पुरुष को, जिनकी श्वेत दाढ़ी हवा में लहरा रही थी। मुखमण्डल पर दैवी आभा और अधरों पर दैवी हास्य। उनकी हर क्रिया थी गीतोक्त यज्ञ-भाव से उद्दीप्त। उनका 'देखना, सुनना, छूना, सूँघना, खाना, चलना, सोना, साँस लेना, बातें करना, छोड़ना, ग्रहण करना – सब कुछ मानो यज्ञमय था।

मैं मूक हो गया। चक्षु निस्पन्द हो गए। उनके गुफा के पास आने तक मैं हाथ जोड़े उनकी ओर टकटकी बाँधे खड़ा रहा। प्रणाम करने पर उन्होंने परिचय पूछा। मैंने संक्षिप्त-सा उत्तर दिया और उनके पास कुछ दिन रहने की अनुमति माँगी।

"कुछ दिन क्यों?" उन्होंने मेरी ओर स्नेहपूर्ण दृष्टि से कहा, "यहीं रह जाओ न? आश्रम का सर्वेसर्वा बनकर? मुझे बस एक मुट्ठी खिला दिया करना!"

मैं तो स्तम्भित रह गया। कहाँ मैं उनके लिए सर्वथा अपरिचित और कहाँ उनकी यह उदारता! उनका स्नेह पाकर मैं अपने को धन्य समझने लगा। ऐसा लगा कि इस व्यक्ति से मेरी चिरपोषित अभिलाषा पूरी हो सकती है।

शास्त्र-पाठ चलने लगा। उस समय योगवाशिष्ठ लिया जा रहा था। स्वामीजी की व्याख्या अपूर्व थी। वे ज्यादा तो नहीं बोलते थे, पर अपनी टूटी-फूटी हिन्दी में जो भाव उड़ेल देते थे, वह शब्दों से कहीं अधिक मुखर था। यहाँ मुझे उस सत्य की प्रतीति हुई – **गुरोस्तु मौनं व्याख्यानम्**। जो सत्यद्रष्टा ऋषि है, जिसने शास्त्र-मर्म की अनुभूति कर ली है, उसे अपने भाव को व्यक्त करने के लिए सुन्दर वाक्य-विन्यास का सहारा नहीं लेना पड़ता। ऐसा व्यक्ति भले ही व्याकरण-सम्मत भाषा न बोले, विविध प्रकार की व्याख्याएँ न प्रस्तुत कर सके, पर वह जो कुछ टूटी-फूटी भाषा में बोलता है, वह सीधा हृदय पर प्रभाव डालता है, क्योंकि उसके शब्दों में उसकी अनुभूति की शक्ति समायी होती है। उस दिन मुझे एक ही घण्टे के सान्निध्य से योगवाशिष्ठ के प्रति एक नया दृष्टिकोण प्राप्त हुआ – उसके गूढ़ अर्थ को समझने की एक नयी दिशा मिली।

शास्त्र-पाठ समाप्त हुआ। स्वामी जी ने मुझसे दो-चार प्रश्न पूछे और कुछ दिन इसी प्रकार बिताने के लिए कहा। अवसर देखकर मैंने उसी दिन संध्या को उनके समक्ष अपनी चिरकांक्षित अभिलाषा रखी। मैंने बताया कि मैं योग-साधना करना चाहता हूँ और उनका नाम सुनकर आया हूँ। वे हँसकर बोले, "अफवाहों में क्या हरदम सत्यता होती है?" मैं न समझ पाया। यह देखकर उन्होंने कहा, "यह जो तुम मेरा नाम सुनकर आए हो, तो कैसे विश्वास कर लिया कि मैं सचमुच योग-मार्ग का पथिक हूँ? लोग तो बहुत-सी बातें उड़ा दिया करते हैं। यह भी उनमें से एक है। मैं तो केवल एक साधक हूँ। दूसरों को सिखाना मेरे बस की बात नहीं है। ठाकुर (श्रीरामकृष्ण) की वह बात क्या पढ़ी नहीं? वे कहते थे – दो प्रकार के लोग होते हैं। एक तो पानी में तैरते काठ के टुकड़े की नाईं होते हैं। यदि एक पक्षी भी उस पर बैठ जाय, तो वह जल में डूब जाता है। दूसरे होते हैं काठ के डोंगे की तरह, जो स्वयं भी पार उतरते हैं और कई लोगों को भी पार उतार देते हैं। मैं तो पहली किस्म का हूँ – काठ के टुकड़े की तरह। हाँ, यदि यहाँ के वातावरण से लाभ उठाना चाहो, तो सुविधा बहुत है। एकान्त निर्जन स्थान है, ऋषिकेश की हलचल भी यहाँ नहीं है, प्रभु की कृपा से एक समय का भोजन का भी ठिकाना है। जो गुरुमंत्र तुमने पाया है, बस, लग जाओ उसी की साधना में।"

सुनते ही हृदय बैठ गया। मैं आया था योग-साधना की विशेष इच्छा लेकर और यहाँ मन के अनुरूप फिर बात जमती नहीं दिखी। सामान्य कुछ वार्तालाप करके मैं प्रणाम कर उठ गया। नीचे आया। कुछ ही गज की दूरी पर भागीरथी बह रही थी। एक शिलाखण्ड पर अवसन्न मन ले बैठ गया और सोचने लगा कि अब क्या किया जाय। इतने में स्वामी जी के एक प्रमुख शिष्य उस ओर आए। उन्होंने मुझे खिन्न देखकर कारण पूछा। मैंने स्वामी जी से हुई सारी बातें बता दीं। उन्होंने आश्वासन देते हुए कहा – "निराश मत होओ! महाराज

इसी प्रकार परीक्षा लेते हैं। जो भी यहाँ साधना के लिए आता है, उससे वे इसी प्रकार कहते हैं। बहुत-से लोग तो चले जाते हैं, पर जो उन्हें किसी प्रकार नहीं छोड़ते, उन्हें पकड़े रहते हैं, उन्हें अन्त में वे गूढ़ योग की शिक्षा देते हैं। तुम उनके पीछे लगे रहो। तुम्हारी इच्छा अवश्य पूर्ण होगी।''

निराशा के बादल छँट गए। आशा की सुनहली किरण हृदय में उतरी। मैं वहाँ के परिवेश से अपरिचित था, अत: सब कुछ नया नया था। धीरे धीरे रात उतरी। मैं भी अपने कमरे में चला आया। व्यवस्थापक ने हिदायत दे दी थी कि मैं अँधेरे में कहीं न निकलूँ। एक लाठी और लालटेन मेरे कमरे में उन्होंने रखवा दी और मुझे बताया कि बाहर निकलने पर लाठी से धरती को ठोकता हुआ चलूँ और लालटेन साथ रखूँ। लाठी की ठक ठक से सर्प आदि रास्ते से हट जाएँगे और लालटेन साथ रहने से वन्य पशु पास न फटकेंगे।

इस प्रकार घने जंगल के बीच मेरी यह पहली रात्रि थी। वन्य पशुओं की आवाजें उस अनन्त शून्य और निस्तब्ध मौन को भेद रही थीं। मेरा हृदय रह-रहकर डर के मारे काँप रहा था। न जाने कितनी अनचीन्ही ध्वनियाँ मेरे कर्णरन्ध्रों में प्रवेश कर रही थीं – बड़ी डरावनी आवाजें थीं वे। कभी कभी चीतों और लकड़बग्घों का गुर्राना और गर्जन भी सुनाई पड़ता था। डर के मारे मेरा बुरा हाल था। नींद आ ही नहीं रही थी। यद्यपि मैंने भीतर से दरवाजा अच्छी तरह बन्द कर लिया था, तथापि ऐसा लगता मानो अभी ही कोई वन्य पशु खिड़की से झाँक गया है। इसी बीच मालूम नहीं कब मेरी आँखें झपक गयीं। अचानक एक विचित्र आवाज से मैं जाग उठा। धड़कते हृदय से मैने खिड़की से देखा कि आखिर आवाज आ कहाँ से रही है। देखता क्या हूँ कि दो भालू गंगा के तीर पर झगड़ रहे हैं। चाँदनी रात थी, इसलिए बाहर सब साफ दिखाई पड़ रहा था। अपनी पिछली दो टाँगों के बल खड़े हो दोनों कुछ देर तक मुक्का-मुक्की सरीखा कुछ करते और लड़कर गंगा के जल में कूद पड़ते। और पानी से निकल कर फिर लड़ने लगते। पता नहीं, उनका यह क्रम कब तक चला। मैं थोड़ी देर तक भालुओं का लड़ना देखकर सो गया।

सुबह कुछ देर से उठा। रात्रि की भयावनी स्मृतियाँ एक एक करके स्मृति पटल पर आने लगीं। मैं तो कमरे के भीतर बन्द था, पर आश्रमवासी मानो प्रकृति माता की निश्छल गोद में बिना किसी दरवाजे के पड़े रहते थे। सुबह मैंने व्यवस्थापक स्वामी जी से पूछा, ''आप लोगों को डर नहीं लगता? मैं तो कल रात बुरी तरह डर गया था।'' उन्होंने हँसते हुए कहा, ''इस प्रकार डरने से साधना कैसे होगी? आप क्या यहाँ रह सकेंगे?'' मैंने बोला, ''मैदान से आया हूँ। यही पहाड़ पर मेरा प्रथम अवसर है। अत: भय स्वाभाविक है। पर मुझे भी यहाँ रहने का अभ्यास हो जाएगा।''

उस दिन मैंने पुन: स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी के समक्ष योग साधना के सम्बन्ध में अपनी प्रार्थना दुहराई। मेरे बारम्बार अनुरोध करने पर, मेरी लगन देखकर वे अन्त में सहमत हो गए। उन्होंने पूछा ''किस गुफा में रहना चाहोगे – डबल सीटेड में या सिंगल सिटेड में?'' मैं उनके कथन का तात्पर्य नहीं समझ सका। तब मुझे बताया गया कि विशाल वशिष्ठ गुफा के अतिरिक्त वहीं सन्निकट ही दो और छोटी गुफाये थीं। एक तो बिलकुल छोटी थी – केवल एक ही व्यक्ति के रहने के लायक थी, बस बैठने और सोने लायक। इसे 'सिंगल सिटेड' कहा जाता था। दूसरी इससे कुछ बड़ी थी। उसमें दो व्यक्ति रह सकते थे, इसलिए उसको 'डबल सिटेड' कहा जाता था। पर दूसरी गुफा की ऊँचाई कुछ अधिक नही थी। मनुष्य केवल बैठ सकता था – खड़ा नहीं हो सकता था। मुझे यह भी बताया गया कि जो विशेष साधना की इच्छा लेकर वहाँ आता था, उसे स्वामी जी इन छोटी गुफाओं में रखना पसन्द करते थे। यह सब जानकर मैंने उत्तर दिया, ''डबल सिटेड मे ही रख दें तो कृपा हो।'' वे हँसते हुए बोले, ''क्यों, डर लगता है?'' क्या कहता, मौन रह गया। बात दरअसल वही थी। सिर नीचा किये मौन बैठा रहा। तब वे फिर से बोले, पर अब उनकी वाणी में गम्भीरता थी, ''यदि डर लगता था, तो साधना के नाम से यहाँ क्यों आए? इससे तो यही अच्छा था कि बँगलों और महलों में रहकर साधना कर लेते। लगता है, यहाँ का परिवेश तुम्हारे अनुकूल नहीं हो सकेगा।'' तब मेरे बोल फूटे। याचना के स्वर में मैंने कहा, ''महाराज, कृपा करके मुझे मौका दें। पहाड़ और जंगलों में आने का यह मेरा पहला मौका है। आपकी कृपा से कुछ दिन में अभ्यस्त हो जाऊँगा।''

मुझे डबल-सिटेड गुफा में रहने की अनुमति मिल गई। यह गुफा नदी के और भी निकट है। फाटक के नाम पर जर्जर लकड़ी के पटरों से बना दरवाजा है, जो हल्के से धक्के से भी तोड़ा जा सकता है। दूसरी रात मैंने इसी गुफा में बिताई। यह रात तो पहली रात से भी भयानक बीती। ऐसा लगता मानो वन्य पशु अब गुफा के सामने आया, तब आया। इसके बाद की अन्य रात्रियाँ भी मेरे लिए भयपूर्ण रहीं। मेरा भय कम होने के बदले बढ़ता ही जा रहा था। कभी कभी जंगली जानवर गुफा के सामने तक आ जाते और मेरे हृदय की धड़कन बढ़ जाती। लालटेन और लाठी तो साथ थीं, तो भी रात्रि में भय के मारे मैं बाहर निकलने का साहस नहीं कर पाता था। रात में मुझे उठना न पड़े, इसके लिए मैंने एक योजना बना ली। संध्या सात बजे के बाद मैं जल ही नहीं पीता था।

सात-आठ दिन इसी प्रकार बीते होंगे कि स्वामी जी को मेरे भय के बारे में मालूम हो गया। उन्होंने मझे बुलवाया और व्यवस्थापक को आदेश दिया कि मेरा यत्किंचित् सामान ऊपर रास्ते पर पहुँचा दिया जाय और मुझे ऋषिकेश जानेवाली बस

में बिठा दिया जाय। बिना किसी भूमिका के अकस्मात उनका निर्णय सुन मैं विकल हो गया। मैंने करुण स्वर में प्रार्थना की, "स्वामी जी मुझे एक मौका और दे दीजिए।" "बहुत दिया जा चुका," वे कठोर स्वर में बोले, "यहाँ आने के पहले ही तुम्हें समझ लेना चाहिए था कि कहाँ जा रहे हो? यहाँ रहने से तुम्हें कोई लाभ न होगा। तुम्हारा समय तो नष्ट होगा ही और तुम दूसरों का समय भी नष्ट करोगे।" स्वामी जी का निश्चित निर्णय देख मैं रो पड़ा। इन कुछ दिनों में मैंने हृदय में जो आशा सँजो ली थी, वह अचानक टूटकर बिखर गई। मेरा नैराश्य रुदन के रूप में प्रकट होने लगा। स्वामी जी झिड़कते हुए बोले, "यह क्या रोना लगाया? रो-रोकर आध्यात्मिक अनुभूतियाँ नहीं मिला करतीं। **नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः** – निर्बलों के लिए आत्मा सुदूर है। जिनमें पौरुष है, जो प्राणों की बाजी लगाते भी नहीं हिचकते, उन्हीं पर आत्मा की कृपा होती है। वह ऐसे ही पुरुषसिंहों का वरण करती है – **यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनु स्वाम्।** तुम लौट जाओ। यहाँ क्यों अपना जीवन बर्बाद करते हो?" मैं रोते हुए उनके चरणों पर गिर पड़ा और याचना के स्वर में बोला, "महाराज, बस अन्तिम अवसर दे दीजिए। मैं शिकायत की कोई बात अब न आने दूँगा। मुझ पर कृपा कीजिए। केवल एक ही मौका और। बस यही भिक्षा दीजिए।" अपनी विवशता में मैं और भी न जाने क्या क्या कहता रहा।

बादल एक बार फिर से छँट गए। स्वामीजी ने मुझे कुछ दिन और रहने की अनुमति दे दी। संध्या समय उन्होंने मुझे बुलवाया। उनके कमरे में और कोई नहीं था। बड़े ही स्नेहपूर्ण शब्दों में उन्होंने मुझसे पूछा, "अच्छा, यह तो बताओ, तुम डरते किस बात से हो? मैं कोई उत्तर न दे पाया। समझ में ही नहीं आया कि क्या कहूँ। मुझे मौन देखकर वे बोले, "आखिर मरने का ही तो डर है, या और कुछ?" मैंने सोचकर देखा, 'महाराज ठीक ही तो कहते हैं। मैं मरने से ही तो डरता हूँ। कब वन्य पशु आ जाय और मेरा काम तमाम कर दे – यही तो डर है।' प्रकट में कहा, "आप ठीक कहते हैं, महाराज। मृत्यु का भय ही बाधक बन रहा है।"

"ठीक," स्वामीजी बोले, "अगर मरने का ही डर हो तो तुम ऐसा क्यों नहीं सोचते कि यदि तुम्हारे कपाल में जंगली जानवर के हाथों मरना लिखा हो, तो वे दिन में भी तुम्हें मार सकते हैं और यदि उनके हाथों मरना न लिखा हो, तो रात में तुम्हारे पास आकर बैठ जायँ, फिर भी तुम्हारा बाल बाँका न होगा। विधि का विधान मेटा नहीं जा सकता। दिन में जंगल की ओर जाते हो। मृत्यु लिखी रहने से दिन में ही बाघ-भालू तुम्हें समाप्त कर सकते हैं – कोई तुम्हें बचा नहीं सकता। और मृत्यु नहीं लिखी हो, तो कोई तुम्हें रात में जंगल के बीच भी नहीं मार सकता। कहो, क्या कहते हो?"

साधारण-सी बात थी; तर्क बिलकुल सरल था, उसमें कोई अपूर्वता नहीं थी, पर बात एक ऐसे पुरुष के मुख से निकली थी, जिसका जीवन ही अनुभूतिमय था। अत: वह मेरे भीतर पैठ गई। सचमुच कितनी सत्य बात स्वामी जी ने कह दी थी! कितनी सहज! स्वयं से कहने लगा, "आखिर ऐसी छोटी-सी बात मेरी समझ में क्योंकर न आयी? सच ही तो है। डरूँ क्यों? भय का कोई कारण नहीं दिखाई देता। डरने से विधि का लिखा नहीं मिट जाता।" स्वामी जी मेरे अन्तर्द्वन्द्व को भाँपकर बोले, "अब से कुछ दिन इसी तर्क पर ध्यान करो और उसे अपने मन में भिदा लो। देखोगे, भय नाम की कोई चीज न रह जाएगी।"

मैंने तदनुसार ही किया। रात्रि में मुझे बाहर जाना पड़े इसके लिए मैं सोते समय काफी मात्रा में जल पी लेता था। अब बलपूर्वक रात्रि में गुफा के बाहर आने लगा। उस मंत्र का जाप तो चला ही था – निर्भीकता के मंत्र का, कि विधि में न लिखा हो तो कौन मार सकता है। सात-आठ दिन में ही धीरे धीरे भय की मात्रा कम होती गई। एक दिन हम सभी रात्रि में स्वामी जी के पास बैठे थे। वे अपने अनुभव बता रहे थे। सहसा जंगल को दहला देनेवाला गर्जन सुनायी पड़ा। ऐसा लगा जैसे बाघ मील-आधमील पर होगा। उस समय ९.३० बजे थे। इसके बाद कुछ देर तक स्वामी जी जंगली जानवरों के अपने अनुभव बता रहे थे। लगभग सवा दस बजे उन्हें जैसे कुछ स्मरण हो आया। कहने लगे, "अरे, एक जरूरी काम तो मैं भूल ही गया। विद्यालय के प्रधानाध्यापक को एक बड़ी आवश्यक सूचना देनी थी।" फिर मेरी ओर देखकर बोले, "जाओ, तुम्हीं पहुँचा आओ। उत्तर लाने की जरूरत नहीं। यदि वे सो गए रहें, तो भी उठाकर दे देना।" मेरी तो ऐसी दशा हो गई कि काटो तो खून ही नहीं! यद्यपि निर्भयता का अभ्यास क्रमशः मुझसे सध रहा था, पर अभी आध-पौन घण्टे पूर्व की दहाड़ ने मुझे कम्पित कर दिया था। मुझे ऐसा लगा मानो स्वामी जी मेरी परीक्षा लेने ही मुझे भेज रहे हैं। जो हो, जाना तो था। मैंने सहमे-से उत्तर दिया, "जो आज्ञा।"

"डर तो नहीं लगेगा?" स्वामीजी ने पूछा।

"जी, लगा भी, तो आपकी कृपा से सब ठीक हो जाएगा।"

"हाँ, ठीक है, हो ही आओ," वे बोले।

स्वामीजी ने कागज पर कुछ लिखकर उसे लिफाफे में भरकर मुझे दिया। मैं लालटेन और लाठी लेकर चल पड़ा। पहले बता ही चुका हूँ कि दूरी काफी थी – लगभग छह फर्लांग। बीहड़ जंगल और अँधेरी रात के कारण मानो एक एक कदम एक एक कोस के समान बोझिल हो रहा था। फिर, कुछ ही समय पूर्व वह हृदय-विदारक गर्जन हुआ था। मेरा क्या हाल था, यह अब लेखनी लिख नहीं पाती। यह तो वही

कल्पना कर सकता है, जिस पर ऐसा समय आया हो। हवा में वृक्ष के पत्ते सरसराते और ऐसा लगता कि जानवर यहीं दुबका पड़ा है। जुगनू चमकते, तो एक बार डर कौंध जाता कि कहीं वे हिंस्र आँखें तो नहीं हैं! भगवान के जितने नाम याद थे, सबको एक एक करके मन-ही-मन दुहरा रहा था।

ले-देकर विद्यालय पहुँचा। प्रधान पाठक सो गए थे। उन्हें जगाया। मुझे इस भयंकर अन्धकारपूर्ण रात्रि में वहाँ देखकर वे भी घबरा गए। कहीं आश्रम में कुछ अनिष्ट तो नहीं हो गया? "आप अकेले, और इस समय कहाँ?" उन्होंने व्यग्रता से पूछा। "हाँ, स्वामी जी की ऐसी ही आज्ञा थी," मैंने उन्हें पत्र देते हुए संक्षिप्त-सा उत्तर दिया।

"पर यह तो सबेरे भी दिया जा सकता था," उन्होंने पत्र पढ़ते हुए कहा, "वैसी कोई इतनी आवश्यक बात तो नहीं दीखती। फिर, कुछ ही देर पहले तो जंगल में आवाज हुई थी। आप लोगों ने नहीं सुनी?"

"सुनी तो थी", मैंने बात समाप्त करते हुए कहा, "और शायद इसीलिए स्वामी जी ने मुझे भेजा है।"

मैं वापस लौट पड़ा। पर अद्भुत बात हुई। ऐसा लगा, मानो भय का आवरण हटता जा रहा है। आप-ही-आप, मालूम नहीं कैसे, भय की भावना ही मेरे मन से दूर होने लगी। आते समय की कँपकँपी, चारों ओर भयाकुल होकर ताकने का भाव – यह सब मानो दूर होता गया और आश्रम के आते तक मानो भय का लेशमात्र भी मन में न रहा। जीवन की यह सबसे प्रथम सिद्धि मुझे मिली। स्वामी जी की कृपा को स्मरण कर मैं गद्गद हो उठा। दूर से देखा, उनके कमरे में प्रकाश था, बातचीत की ध्वनि सुनाई पड़ रही थी। मैं ऊबड़-खाबड़ ढाल पर दौड़ पड़ा और गिरते-हाँफते उनके कमरे में पहुँचकर उनके चरणों में लोटपोट हो गया। वे सस्नेह अपना कृपापूर्ण हस्त बड़ी देर तक मेरे सिर पर फेरते रहे। मैं उठा, पर कृतज्ञता-ज्ञापन के लिए शब्द मानो नीरव हो गए थे। आश्रमवासी मेरी यही अवस्था देख कुछ समझ न पा रहे थे। स्वामीजी ने स्मित हास्य से पूछा, "क्यों, ठीक रहा न?" मैंने कृतज्ञता के स्वर में उत्तर दिया, "जी, बिलकुल ठीक रहा!"

सब उठे। बाहर आकर मुझसे पूछा। मैंने बता दिया। वे भी आश्चर्यचकित हुए। मैं रात में सो न सका – आनन्द इतना उछला पड़ रहा था। मैं सारी रात जंगलों में घूमता रहा। वन के जिस भाग में दिन में भी जाने में हिचक होती थी, वहाँ जाकर बड़ी देर तक बैठा रहा, गाता रहा, घूमता रहा। वह रात्रि मेरे लिए वरदान की रात्रि थी, सिद्धि की रात्रि थी, वशिष्ठ गुफा के योगी की वह एक अनुपम देन थी। ❑❑❑

(विवेक-ज्योति के अक्तूबर-दिसम्बर १९६३ के अंक से पुनर्मुद्रित)

संन्यासी की भ्रमणगाथा (६)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी ने 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' शीर्षक के साथ अपनी भ्रमण-गाथा लिखी थी, जो सम्भवतः रामकृष्ण कुटीर, बीकानेर से प्रकाशित हुई। इस अतीव रोचक तथा उपयोगी प्रबन्ध को 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के हितार्थ धारावाहिक रूप से प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

भ्रान्ति का उपयोग (१)

भ्रान्ति अज्ञान से ही उत्पन्न हुआ करती है।

ऋषिकेश में, पुरानी झाड़ी तथा चन्द्रभागा नदी के उस पार पहाड़ के बीच जो सरोवर जैसा बन गया है, गंगा के उस विस्तृत क्षेत्र को मायाकुण्ड कहते हैं। एक दिन शाम के समय परिव्राजक संन्यासी वहीं गंगा-तट की स्वच्छ बालुका-राशि पर आत्मनिष्ठ होकर बैठा हुआ था। एक पुरोहित पण्डाजी कुछ यात्रियों को साथ लिए उधर ही आ चढ़े। उस मण्डली में सहधर्मिणी के साथ एक सिक्ख सरदार जी भी थे। यात्रियों ने गंगाजी की पूजा की। किसी किसी ने स्नान भी किया। सिक्ख-दम्पति ने स्नान के बाद हाथ में जल लिया और पण्डाजी ने आधी संस्कृत और आधी हिन्दी में जो मंत्र पढ़ाया, उसे पढ़कर पानी छोड़ा, फिर पण्डे ने कहा – "लड़का चाहिए या लड़की? – जो चाहिए, सो मायादेवी से माँग लो!" सरदारनी बोली – "लड़का चाहिए!" तो पण्डाजी ने उनके हाथ में पेड़े-मिठाई का दोना देकर जोर की आवाज में कहा और सरदार से कहलाया – लड़की या लड़का? – उधर से प्रतिध्वनि आई – लड़का। ऐसा तीन बार बुलवाने के बाद कुछ मिठाई उसने गंगाजी में विसर्जित की और थोड़ी-सी सरदारनी के हाथ में देकर, बाकी अपने अँगोछे में बाँधकर चल दिया।

संन्यासी सब कुछ देख रहा था और सरदार की नजर भी संन्यासी पर थी। जब वह लड़की या लड़का कह रहा था, तो संन्यासी मुस्कुराया था। सरदार ने देखा था। उस दिन तो वह चला गया, पर दूसरे दिन सुबह वह फिर मायाकुण्ड आया। संन्यासी तब वहीं स्नान कर रहा था। पास में आकर बोला – "क्यों जी, आप सन्त हैं! कल जब मैं पूजा करके वरदान माँग रहा था, तब आप हँसते थे, क्या यह उचित कार्य है?"

संन्यासी समझ गया कि सरदार गुस्से में है। बोला – "पर आप वरदान किससे माँग रहे थे जी?"

– "क्यों, मायादेवी से!"

– "अच्छा, मुझे बताइए, आपको क्या खाना है? लड्डू या पेड़ा? जो भी चाहिए वह मैं आपको मायादेवी से

दिलवाऊँगा।'' और संन्यासी ने जोर की आवाज में कहा – 'लड्डू या पेड़ा?' तो उधर से प्रतिध्वनि आई – 'पेड़ा।' फिर कहा – 'पेड़ा या लड्डू?' तो अवाज आयी – 'लड्डू।'

सरदारजी ने आश्चर्यचकित हो पूछा – ''यह कैसा?'' संन्यासी ने समझाया – ''इसे प्रतिध्वनि कहते हैं। उधर ऊँचे पहाड़ हैं न, इस कारण वह शब्द जो अन्त में कहा जाय, झट वापस आ जाता है; प्रथम शब्द अस्पष्ट हो जाता है, अत: ठीक सुनने में नहीं आता, जबकि दोनों ही प्रतिध्वनित होते हैं, पर कान से तो अन्तिम शब्द ही स्पष्ट रूप से टकराता है। यह कुदरती नियम है, इसमें न कोई देवी है, न देवा। इसी कारण कल मैं हँस दिया था।''

– ''तब तो पण्डे ने मुझे ठगा है?''

– ''अब आप चाहे जो समझें, पर बात तो यही है। भोलेपन के कारण आदमी समझता है कि कोई उधर से बोल रहा है, पर यह भ्रान्त धारणा है। चतुर लोग इस भ्रान्ति का उपयोग अपने फायदे के लिए किया करते हैं। ... यदि जो माँगा, वही दैवयोग से हो जाय, तो मान बैठता है कि सच्चा देव है और उसका प्रचार करता रहता है। असल में न कोई देव है, न कोई देवी है; स्वयं जो इच्छा प्रकट करता है, वही कुदरती नियम से वापस आ जाती है। अपने हृदय में जो देव बैठे हैं, शायद वे स्वयं ही अपनी माँग सुनकर प्रसन्न होते हैं और यह प्रसन्नता सुखरूप होती है। क्यों सरदारजी, अब तो मन से गुस्सा उतर गया है न?''

– ''गुस्सा, जैसा कुछ नहीं है जी, कल मुझे बुरा लगा था, पर अब मैं समझ गया हूँ।'' – अस्तु।

भ्रान्ति का उपयोग (२)

ऋषिकेश-लक्ष्मण झूला पार करके स्वर्गाश्रम की ओर जाने का मार्ग है। अनेक वर्षों पूर्व (१९४७-४८ ई. में) स्वर्गाश्रम के फाटक के पास एक मौनी बाबा की झोपड़ी थी। वे शान्त प्रकृति के सन्त थे, आठ-दस गौएँ पालते थे और साधु-सन्तों को मट्ठा देते थे। मौनी बाबा की झोपड़ी से जरा आगे झूले की तरफ एक विशाल बरगद का पेड़ था और उसके सामने ही गंगाजी का निर्मल शीतल प्रवाह और उसके ऊपर धर्मशाला। आसपास में कोई बस्ती या मन्दिर आदि नहीं थे। स्थान मनोरम और एकदम निर्जन था।

परिव्राजक संन्यासी एक दिन घूमते-फिरते उधर ही जा पहुँचा। उसने देखा कि – उधर वृक्ष के नीचे जमीन से हाथ भर ऊँचा, आसन के लायक, एक सुन्दर तिकोना पत्थर पड़ा हुआ है। साधना के लिए और विशेषकर ध्यान लगाने के लिए वह अच्छा स्थान प्रतीत हुआ। ... परन्तु लोगों ने वहाँ चारों तरफ शौच कर-करके बहुत गन्दगी फैला रखी थी। जंगली झाड़ियों से घिरी हुई तथा निर्जन जगह होने के कारण ही लोगों ने उसे दूषित कर डाला था। विचार में डूबा हुआ उधर से निकला, तो स्वर्गाश्रम में रहनेवाले एक मालावारी ब्रह्मचारी – गिरधारी लाल जी, सामने से आते मिल गए।

– ''क्यों इधर क्या कर रहे हैं आप? यहाँ तो सब लोग मल-मूत्र-त्याग किया करते हैं।''

– ''हाँ, पर जरा इधर आकर देखो तो।''

वे साथ आए। संन्यासी ने उन्हें वह तिकोने आसन जैसा पत्थर दिखाते हुए कहा – ''यहाँ बैठकर ध्यान करने से बड़ा आनन्द आएगा, इसे साफ करवा डालने से अच्छा रहेगा।'' – ''क्या अभी कर डालें'' – कहकर वे मौनीजी के पास से एक कटारी ले आए और जंगली झाड़ियाँ धड़ाधड़ दूर तक काटकर साफ कर दिया। फिर उनकी डालियाँ उठाकर दोनों ने मिलकर वह जगह झाड़-झूड़कर स्वच्छ कर दिया। मौनीजी भी दूर से देख रहे थे। वे बाल्टी भर पानी ले आए और उसमें गोबर घोलकर चारों ओर छिड़क दिया, फिर बाल्टी भर-भरकर खूब गंगाजल डाला, फिर और भी गोबर देकर सारा स्थान शुद्ध कर दिया। अब जगह सुहावनी लगने लगी और हम दोनों उस तिकोने पत्थर पर बैठ सत्संग का आनन्द लेने लगे। पहले शायद कोई साधक यहाँ रहता होगा।

संन्यासी अब लगभग नियमित रूप से वहाँ जाकर ध्यान-जप आदि करने लगा और कभी कभी वे ब्रह्मचारी भी आ जाया करते थे। कुछ दिनों तक अच्छा चला। सर्दी का मौसम बीता और ग्रीष्म ऋतु आ गई। केदार-बद्री-यात्रा का समय हुआ, लोग आने-जाने लगे। एक दिन ब्रह्मचारी ने आकर संन्यासी को बताया – ''वह स्थान बेदखल हो गया है, कई धूनीवाले वैष्णव तपस्वियों ने धूनी जलाकर वहाँ आसन जमाया है और उस पत्थर पर लाल सिन्दूर भी लगाया है।'' – ''अच्छा!'' संन्यासी उसके साथ देखने गया। ब्रह्मचारी के माध्यम से पुछवाया – ''इस पत्थर की पूजा क्यों की गई है? सिन्दूर क्यों चढ़ाया गया है?'' उधर से गम्भीर उत्तर मिला – ''क्यों, पता नहीं है क्या? यह आसन सीताजी का है। जब रामचन्द्र जी रावण को मारकर ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त होने के लिए तप करने इधर आए थे, तब साथ में सीताजी भी थीं और उन्होंने इसी स्थान पर, इसी पत्थर पर बैठकर तप किया था। राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न – सभी यहाँ तप करने आए थे, उनके अलग अलग आसनों पर मन्दिर बन गए हैं, परन्तु सीता मैया के आसन पर अभी तक नहीं बन सका है, यह भी उनकी कृपा से हो जाएगा।'' और जिस तिकोने पत्थर के आसन पर हम दोनों बैठते थे, वह कुछ ही दिनों में सीताजी का 'पक्का' आसन – तप-अनुष्ठान का चिह्न बन गया।

इसी को अँग्रेजी में Priest-craft – 'पुरोहितों की व्यापारिक वृत्ति' कहते हैं। सभी देशों में ऐसा होता है, अर्थात् धर्म के

नाम पर आजीविका-उपार्जन का पथ निकाला जाता है। भारत में यह थोड़े अधिक परिमाण में नजर आता है।

इस घटना के बाद स्वर्गाश्रम में जोर-शोर के साथ ऐसा प्रचार होने लगा कि मणिकूट पर्वत के पास गंगा के बीच एक पत्थर पर बैठकर हनुमानजी तप करते थे। दुर्भाग्यवश संन्यासी और वे केरलीय ब्रह्मचारी उसी पत्थर पर की साफ रेती मे बैठकर उपनिषद् आदि का पाठ किया करते थे। कभी कभी कोई अन्य सन्त भी वहाँ आ मिलते। यह पत्थर बिल्कुल गंगा की मूलधारा के पास था, किनारे से काफी दूर; नीचे से प्रवाह चलता था। वर्षा ऋतु में वह पानी मे डूब जाता था, उस पर से होकर प्रबल जल-प्रवाह चलता। पर देखने में बड़ा सुन्दर था – किनारे की ओर दीवार जैसा ऊँचा, पानी की मार से ऐसा घिसा हुआ, मानो पॉलिश किया हुआ हो। अर्द्ध-चक्राकार नाल (Horse shoe) सरीखा, सुन्दर, साफ रेती से भरा हुआ चित्ताकर्षक स्थल। वहाँ बैठने पर तट से कोई देख नही पाता था, इसलिए संन्यासी को यह स्थान बड़ा पसन्द आया था।

एक शनिवार को दोपहर के आहार के उपरान्त संन्यासी और वे ब्रह्मचारीजी वहीं बैठकर छान्दोग्य-उपनिषद् के भाष्य पर चर्चा कर रहे थे, इतने मे स्वर्गाश्रम के अन्नक्षेत्र का एक नेपाली रसोइया उधर आ चढ़ा। बोल उठा – "वाह, बड़ी सुन्दर जगह है। यह जो दीवार जैसा है, इस पर हनुमानजी का बड़ा चित्र बहुत अच्छा हो सकता है।" वह हनुमानजी का परम भक्त था। इधर-उधर चित्र आँकते रहना उसके स्वभाव मे था। संन्यासी ने ब्रह्मचारी से कहा – "बस, अब यह स्थान भी हाथ से जानेवाला है! यह जरूर हनुमानजी का चित्र बनाएगा और फिर दर्शकों को बुला-बुलाकर लाएगा, निर्जन का जो आनन्द अब तक हम लोग लिया करते हैं, वह बन्द हो जाएगा और वैसा ही हुआ भी। उसी रात को दस बजे वह नेपाली नारियल का प्रसाद लेकर कुटीर में हाजिर हुआ और बोला – "वहाँ हनुमानजी की पूजा करके प्रसाद ले आया हूँ।" सुबह जाकर हम लोगों ने देखा तो विशालकाय हनुमानजी खड़े हैं, धूप-धूना भी दिया गया है।

पर बात यहीं खत्म नही हुई। कुछ दिनों बाद एक भण्डारा हुआ, जहाँ छपे हुए पर्चे (Leaflets) बाँटे गए और उसमे लिखी हुई बातें संक्षेप मे इस प्रकार थीं – जब श्रीराम-लक्ष्मण-भरत-शत्रुघ्न-सीताजी इधर तप कर रहे थे, तब हनुमानजी ने उसी शिला पर बैठकर तप किया था। अब उस पर एक मन्दिर-स्थापना की योजना तैयार की गई है, जिसके लिए एक धर्मनिष्ठ सेठजी चालीस हजार रुपए खर्च करने को तैयार हुए हैं, आदि आदि।

ब्रह्मचारी और संन्यासी एक साथ ही भोजन के लिए बैठे थे – "अरे भाई! लीजिए! अब एकदम स्थान ही बन गया, बैठने के लिए रहा नहीं! पर बनवानेवाले सेठजी को शायद नही मालूम कि वर्षा ऋतु में उस शिला पर गंगाजी का जल-प्रवाह चलता रहता है, पाँच ही मिनट में वे मन्दिर को बहा ले जाएँगी। संन्यासी ने निश्चय किया कि वह पत्र द्वारा भी यह बात उन्हें सूचित कर देगा। इतने में स्वयं सेठजी ही वहाँ हाजिर हुए। भण्डारा उन्ही की ओर से था। कर्माध्यक्ष ने परिचय कराया – "ये सेठजी है, जिन्होंने हनुमानजी का मन्दिर बनवाने का संकल्प किया है।" बस, संन्यासी ने उनसे पूछा – "क्यो सेठजी, जहाँ आप मन्दिर बनवाना चाहते हैं, वह जगह क्या आपने अच्छी तरह से देख ली है? वह जगह तो ऐसी है, वर्षा ऋतु मे जिसके ऊपर से गंगाजी का प्रचण्ड प्रवाह चलता रहता है और वहाँ उस समय कोई जा भी नही सकता। पाँच ही मिनट में मन्दिर का नाश हो जाएगा, चिह्न तक नही रहेगा।" सेठजी तो कर्माध्यक्ष का मुँह देखते रहे। उसने कहा – "नहीं, ऐसा कैसे होगा। इस ढंग से तैयार किया जाएगा कि पानी चाहे जितना भी जोर मारे, कुछ नही होगा। संन्यासी ने सेठजी से पुनः कहा – "स्थान को स्वयं देखने के बाद विचार करके, फिर निर्णय करना उचित होगा। भोजन के बाद सेठजी के साथ चलने की तैयारी बताने से कर्माध्यक्ष को भी राजी होना पड़ा। वह मन-ही-मन बहुत नाराज था, पर कुछ बोल न सका।

उस स्थान पर पहुँचकर जब संन्यासी और ब्रह्मचारी ने सेठजी को समझाते हुए बताया, तो उन्हे बात की सत्यता समझ मे आ गई। कर्माध्यक्ष ने कहा – "किनारे से रास्ता बाँध देने और खूब ऊँचा कर देने पर कुछ न होगा।" पर हिसाबी सेठजी समझ गए कि रास्ता बाँधने में ही लाख से अधिक व्यय हो जाएगा। तब उन्होंने चिन्तित होकर संन्यासी से पूछा – "अब क्या किया जाय? संकल्प लेकर गंगाजी मे पानी छोड़ दिया है, अब क्या उपाय हो सकता है?" संन्यासी ने कहा – "इस पत्थर से सीधा, नही तो गंगा-तट पर ही ऐसी किसी खाली जगह पर मन्दिर बनवाने से उद्देश्य सफल होगा।" सेठजी इससे बहुत सन्तुष्ट हुए और बाद मे कर्माध्यक्ष ने भी मान लिया तथा किनारे पर ही हनुमानजी का एक छोटा-सा मन्दिर बनवाया गया, जो अब भी होगा।

यह बात भलीभाँति विचार करने योग्य है, इसी प्रकार से लोगो की अज्ञानता का लाभ उठाया जाता है और भारतीय आम-जनता श्रद्धाशील स्वभाव की होने के कारण बिना-विचारे ऐसी बातें मान करके इसी को सत्य या हकीकत है समझ बैठती है। क्या हनुमानजी ने ढूँढ़-ढूँढ़कर वैसी जगह पसन्द की होगी? और क्या सीताजी ने श्री रामचन्द्र जी का साथ छोड़कर उस स्थान पर एकाकी रहकर तप किया होगा?

❖ (क्रमशः) ❖

गीता की शक्ति और मोहकता (८)

स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज (परमाध्यक्ष, रामकृष्ण मठ तथा मिशन)

(अद्वैत आश्रम, मायावती से प्रकाशित होनेवाली प्रस्तुत लेखमाला के दो भाग हैं – 'गीता-अध्ययन की भूमिका' जीवन के विभिन्न प्रकार के कार्यों में व्यस्त जगत् के विचारशील लोगों का गीता से परिचय कराने हेतु है और दूसरा भाग 'गीता की शक्ति तथा मोहकता' इस महान् ग्रन्थ पर दिये गए एक उद्बोधक व्याख्यान का अनुलिखन है। इन अंग्रेजी व्याख्यानों का हिन्दी अनुवाद हम क्रमश: प्रकाशित कर रहे है। – सं.)

निष्कर्ष

अर्जुन को यह सन्देश देने में श्रीकृष्ण का क्या उद्देश्य था? अब इसी विषय पर कुछ कहा जाएगा। श्रीकृष्ण क्यों युद्धक्षेत्र में अर्जुन से बातें कर रहे थे? क्या वे जगत् की रक्षा कर सकते हैं? शंकराचार्य के भाष्य में एक ही वाक्य है – **गुणाधिकैः हि गृहीतः अनुष्ठीयमानः च धर्मः प्रचयं गमिष्यति इति** – 'अधिक गुणवान लोगो द्वारा समझे और जीवन में अपनाये जाने पर आध्यात्मिक भावों का विस्तार होता है।' पहले से जल रहे एक दीप से दूसरा दीप जलाने के समान यह क्रमश: पूरे समुदाय के नैतिक तथा आध्यात्मिक स्वास्थ्य में सुधार लाता है। ईसा कहते हैं, "जरा-सा खमीर पूरी रोटी को फुला देता है।" ये विचार समाज में धीरे धीरे प्रवेश करते हैं और अन्तत: समाज को बदल डालते हैं। यह कैसे होता है, अब हम इसी पर चर्चा करेंगे।

शंकराचार्य आगे कहते हैं –

स च भगवान् ज्ञान-ऐश्वर्य-शक्ति-बल-वीर्य-तेजोभिः सदा सम्पन्नः त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां मायां मूलप्रकृतिं वशीकृत्य अजः अव्ययो भूतानाम् ईश्वरो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभावः अपि सन् स्व-मायया देहवान् इव जात इव च लोकानुग्रहं कुर्वन् इव लक्ष्यते ।। स्वप्रयोजनाभावे अपि भूतानुजिघृक्षया वैदिकं हि धर्मद्वयम् अर्जुनाय, शोक-मोह-महोदधौ निमग्नाय, उपदिदेश, गुणाधिकैः हि गृहीतः अनुष्ठीयमानः च धर्मः प्रचयं गमिष्यति इति ।। तं धर्मं भगवता यथोपदिष्टं वेदव्यासः सर्वज्ञो भगवान् गीताख्यैः सप्तभिः श्लोकशतैः उपनिबबन्ध – "वे भगवान ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीरता और तेज आदि से सर्वदा सम्पन्न होकर भी अपनी त्रिगुणमयी वैष्णवी माया रूप मूल प्रकृति को वशीभूत करके; स्वयं अजन्मा, समस्त प्राणियों के अव्यय शासक, और स्वभाव से नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त होते हुए भी अपनी माया के सहारे मानो देहवान, मानो जन्मे हुए और मानो लोगों पर अनुग्रह करते हुए दिखाई देते हैं। अपने लिए कोई प्रयोजन या उद्देश्य न होने पर भी लोगों का कल्याण करने की इच्छा से, शोक-मोह के सागर में डूबे अर्जुन को उन्होंने दो प्रकार के वैदिक धर्म (कर्म तथा ध्यान) का उपदेश इस विश्वास के साथ दिया कि जब यह अधिक गुणवाले लोगों द्वारा ग्रहण किया, समझा तथा आचरण किया जाता है, तो (जलते हुए एक दीप से दूसरे दीप को जलाने के समान) इसका विस्तार होना अवश्यम्भावी है। भगवान श्रीकृष्ण द्वारा उपदेश किये गए उस धर्म को सर्वज्ञ भगवान वेदव्यास द्वारा **गीता** नाम से सात सौ श्लोकों में परिणत कर लिया गया।"

गीता के प्रादुर्भाव के बारे में इतना कह लेने के बाद शंकर आगे कहते हैं –

तत् इदं गीताशास्त्रं समस्त-वेदार्थ-सार-संग्रहभूतं दुर्विज्ञेय-अर्थम्। तदर्थ-आविष्करणाय अनेकैः विवृत-पद-पदार्थ-वाक्यार्थ-न्यायम् अपि अत्यन्त-विरुद्ध-अनेकार्थत्वेन लौकिकैः गृह्यमाणम् उपलभ्य अहं विवेकतः अर्थ-निर्धारणार्थं संक्षेपतो विवरणं करिष्यामि – "यह गीता नामक शास्त्र समस्त वेदों की शिक्षा का सार-संग्रह है; परन्तु अर्थ समझने की दृष्टि से यह अत्यन्त कठिन है। अनेक लोगों ने इसके शब्दों, उनके अर्थों, वाक्यार्थों की व्याख्या करने का प्रयास किया है। सामान्य लोगों के लिए यह एक परस्पर-विरोधी विचारों का एक संग्रह बन गया है। उनकी यह दुर्दशा देखने के बाद मैं अपने विवेक के अनुसार संक्षेप में अर्थ-निर्धारण करने के लिए इसकी व्याख्या करूँगा।"

शंकराचार्य निम्नलिखित विचारपूर्ण शब्दों के साथ अपनी भूमिका का समापन करते हैं –

इमं द्विप्रकारं धर्मं निःश्रेयस-प्रयोजनं परमार्थ-तत्त्वं च वासुदेवाख्यं परब्रह्म अभिधेयभूतं विशेषतः अभिव्यञ्जयत् विशिष्ट-प्रयोजन-सम्बन्ध-अभिधेयवत् गीताशास्त्रम्। यतः तदर्थे विज्ञाते समस्त-पुरुषार्थ-सिद्धिः अतः तद्विवरणे यत्नः क्रियते मया – 'इस प्रकार गीता शास्त्र विशेष रूप से वेदो के दो प्रकार के **धर्मों (प्रवृत्ति तथा निवृत्ति)** की व्याख्या करते हुए आध्यात्मिक मुक्ति के निमित्त है; यह वासुदेव नामवाले परब्रह्म के रूप में ज्ञात अन्तिम सत्य को प्रस्तुत करता है; अत: यह एक विशेष उद्देश्य, सम्बन्ध तथा विषयवस्तु से युक्त है। चूँकि इसके अर्थ को जानने से समस्त पुरुषार्थों की प्राप्ति हो जाती है, अत: मैं इसकी व्याख्या करने का प्रयास करता हूँ।' ❖ **(समाप्त)** ❖

काशी – जहाँ मृत्यु भी मंगलमय है

आचार्य बलराम शास्त्री

यह ध्रुव सत्य है कि संसार में मृत्यु से बढ़कर कोई कष्ट नहीं है। मर कर अनुभव करनेवाले इस मृत्यु-कष्ट को बतलाने तो नहीं आते, पर मरते समय जीव को जो कष्ट होता है, वह दृश्य देखकर यही अनुभव होता है कि मरण में बहुत कष्ट है। बहुधा अपने सगे सम्बन्धियों को मरते तो बहुतों ने देखा है, दर्शकों को मृतक के कष्ट देखकर विचित्र अनुभूति होती है। शास्त्रकारों ने मृत्यु और जन्म की पीड़ा को समान माना है –

जनमत मरत दुसह दुख होई ।।

तथापि लेख का शीर्षक देखकर कुछ लोग सहसा आश्चर्य में पड़ जायेंगे कि 'वह कौन-सा स्थान है, जहाँ मृत्यु भी मंगल-मय है?' मृत्यु और वह भी मंगलसूचक! यह परस्पर विरुद्ध बात है। यह रहस्य सहसा सबकी समझ में नहीं आ पाता। जो लोग मोक्ष में विश्वास और पुनर्जन्म में आस्था रखते हैं, उन्हें ही यह रहस्य समझ में आ सकता है। भारत में वाराणसी ही एक ऐसा स्थान है, जहाँ मृत्यु भी मंगलकारी होती है। मृत्यु एक ऐसी घटना है, जो निश्चित रूप से घटती है। **जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः** – जो जन्म लेता है, वह निश्चय ही मृत्यु का आलिंगन करता है। यह अवश्यम्भावी मृत्यु वाराणसी में मंगलकारिणी बन जाती है। श्रद्धालु जनों को विश्वास है कि वाराणसी पुरी में मरनेवालों को अवश्य मोक्ष मिलता है।

मोक्ष की आवश्यकता

काश्यां मरणात् मुक्तिः – काशी में मरने पर मुक्ति मिलती है, यह श्रुति वाक्य है। प्रश्न उठता है – 'यदि वाराणसी पुरी में मरने मात्र से ही सबको मुक्ति मिलती है, तो एक दिन यह भी सम्भव हो सकता है कि सभी जीव मोक्ष पा जायँ! फिर तो एक दिन सारी सृष्टि ही समाप्त हो जाएगी! सम्भव है, मरते समय सभी नर-देही वाराणसी पुरी में पहुँच जायँ और मोक्ष प्राप्त कर लें? लेकिन ऐसा सम्भव नहीं। 'अद्वैतवादी' ब्रह्म के उपासक सृष्टि की रचना को 'लीला' का ही विषय मानते हैं। अन्य दार्शनिक जगत् की सृष्टि जीवों के 'भोगार्थ' ही मानते हैं। फिर भी यही सिद्धान्त ठीक है कि 'जगत्' और 'जीव' – दोनों उस परमेश्वर की महिमा मात्र हैं। सभी जीवों की संख्या तो गिनी नहीं जा सकती, परन्तु उनके 'अनन्त' होने में सन्देह नहीं। प्राचीन भारतीय भूगोल के अनुसार ब्रह्माण्ड के उदर का परिमाण पचास कोटि योजन अनुमानित है। पाताल से ब्रह्मलोक-पर्यन्त इस ब्रह्माण्ड में स्थल, जल, आकाश तक कोई भी चप्पा ऐसा नहीं, जहाँ जीव न हो। अत: किसी स्थल-विशेष में मरने से जीव को मोक्ष मिल जाता हो, तो इससे सृष्टि का अन्त नहीं हो सकता। मोक्ष भी चार प्रकार के होते हैं – सायुज्य, सामीप्य, सालोक्य और सारूप्य। मोक्ष की प्राप्ति के बाद जीव को पुन: मृत्युलोक में नहीं आना पड़ता। शास्त्रों में इसका प्रमाण मिलता है कि वाराणसी में मरने पर सायुज्य जन्म-ग्रहण करना पड़ता है। तब मोक्ष प्राप्त होता है।

यथा स्थानविशेषेषु विविधा मुक्तिरीरिता ।
न तादृशी मुक्तिरत्र काश्यां मुक्तिर्विलक्षणा ।।

काशी में मरनेवाला जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है। उसे पुन: जन्म नहीं लेना पड़ता, यह एक प्रामाणिक मत है।

बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं

पुन: प्रश्न उठता है कि यदि वाराणसी में मरने मात्र से मुक्ति मिल जाय, तब तो वाराणसी में रहनेवाले जन पापाचरण से किसी प्रकार विरत न होंगे? और वाराणसी पापाचार का अड्डा ही बन जायेगा। वहाँ कुकर्म का बोलबाला हो जायेगा? वाराणसी का निवासी मान बैठेगा कि 'यहाँ मरने पर मोक्ष तो मिल ही जाएगा, अत: मनमाना आचरण करो, सुख भोगो और मरने पर मोक्ष भी पा जाओ? किन्तु बात ऐसी नहीं। यह तो निश्चित नहीं कि कौन कहाँ मरेगा और कब मरेगा? फिर शास्त्रकारों ने यह भी लिख दिया है – **तीर्थक्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति** – 'तीर्थक्षेत्रों में पाप करने से वह पापाचरण अमिट हो जाता है, वज्रलेप बन जाता है।' वाराणसी पुरी में पाप करनेवालों को 'यम-यातना' की जगह 'भैरवी-यातना' भोगनी पड़ती है। भैरवी-यातना बड़ी भयानक होती है, किन्तु क्षणमात्र की होती है। मरनेवाले जीव को उस भयानक भैरवी-यातना की अनुभूति थोड़े समय के लिये ही होती है, यह वाराणसी का विशेष महत्त्व ही है।

फिर प्रश्न उठता है – "क्या वाराणसी में मरनेवालों को 'ज्ञान' की आवश्यकता नहीं होती? क्या बिना ज्ञान के मुक्ति सम्भव है?" श्रुति-वाक्य भी है – **ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः** – ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती'। तो क्या यह असत्य है? इस पर मोक्षवादियों का यह शास्त्र-सम्मत कथन है कि वाराणसी पुरी में मरते समय भगवान शंकर जीव को तारक (मुक्ति)-मंत्र प्रदान करते हैं। वह तारक-मंत्र ही जीव को मोक्ष प्रदान करा देता है। मंत्र के प्रभाव से ज्ञान हो जाता है और ज्ञान के प्रभाव से मोक्ष मिल जाता है। तारक-मंत्र के प्रभाव से ही ब्रह्मज्ञान हो जाता है। ब्रह्मज्ञान ही मोक्ष का कारण बनता है।

अब प्रश्न उठता है – "यदि सभी जीवों को वाराणसी में मरते समय शंकर भगवान 'तारक-मन्त्र' का उपदेश देते हैं तो पापात्माओं और पुण्यात्माओं में भेद ही नही रहेगा?" शास्त्रवादियों ने इसका भी बड़ा सुन्दर और मनोवैज्ञानिक उत्तर दिया है।

'वाराणसी में पापाचरण करनेवाले जन यदि दुर्भाग्यवश वाराणसी से बाहर मरते हैं, तो उन्हें 'यम-यातना' के साथ ही 'भैरवी-यातनाएँ' भी सहनी पड़ती हैं। किसी को अपनी मृत्यु के स्थान का पता नहीं रहता। कब किसकी कहाँ मृत्यु होगी, यह विवादयुक्त स्थिति है। वाराणसी में पापाचरण करनेवाला जीव अपनी मृत्यु निश्चित रूप में वाराणसी में ही मान ले, तो वह उसकी भयानक भूल होगी। जब तक मृत्यु का स्थान और समय निश्चित नहीं, तब तक पापाचरण का प्रश्न ही नहीं उठता। पापाचरण कहीं भी ग्राह्य नहीं और न श्रेयस्कर ही है।

प्रश्न उठता है – "तो फिर वाराणसी में रहनेवाले जीव को क्या लाभ?" इसका भी उत्तर शास्त्रवादियों ने दिया है कि यदि जीव काशी में रहकर वही मरता है, तो उसका मोक्ष पर जन्मसिद्ध अधिकार है। यदि वाराणसी का निवासी मृत्यु के समय वाराणसी से भिन्न किसी जगह अपना शरीर छोड़ता है, तो दूसरे जन्म में पुन: उसे वाराणसी पुरी में जन्म लेना पड़ता है और उसकी मृत्यु भी वाराणसी पुरी में ही होती है। वाराणसी मे मरने पर मोक्ष निश्चित ही है।

वाराणसी की विचित्रता

शास्त्रों में कहा गया है कि वाराणसी पुरी शंकरजी के त्रिशूल पर बसी है। वाराणसी पुरी का पृथ्वी-मण्डल से कोई सम्बन्ध नहीं। शंकरजी का त्रिशूल भी आधाररहित है। इतना ही नहीं, वाराणसी में मरनेवालो को 'उत्तरायण और दक्षिणायण' का भी विचार नही करना पड़ता। पवित्र और अपवित्र स्थान का भी विवेक नही करना पड़ता। गंगातट या गली में भी कोई भेद नही किया जाता। वाराणसी में जीव जहाँ कहीं भी अपनी देह त्यागता है, वहीं भगवान शंकर उसे अपना 'तारक-मंत्र' देकर मोक्ष का अधिकारी बना देते हैं।

भूमौ जलेऽन्तरिक्षे वा यत्र क्वापि मृतो द्विजः।
ब्रह्मात्म-एकत्वम् आप्नोति ... ... ।।

वाराणसी पुरी के तीन क्षेत्र (खण्ड) हैं। वाराणसी पुरी में 'मध्यमेश्वर' का जो शिवलिंग है, उसे केन्द्र-बिन्दु मानकर देहली-विनायक तक की रेखा से यदि एक वृत्त बनाया जाय, तो उतने (वृत्तान्तर्गत) क्षेत्र तक मरनेवाले जीवों को मोक्ष प्राप्त होता है। वाराणसी के मण्डलाकार घेरे में पूर्व में गंगा तट का भाग है। पश्चिम में पाशापाणि गणेश का मन्दिर है। दक्षिण में अस्सी-नदी है, तो उत्तर में है वरुणा नदी। वाराणसी के भीतर ही '**अविमुक्त**' नामक क्षेत्र है। विश्वनाथ-मन्दिर से दो सौ धनुष नापने पर चारों ओर मण्डलाकार अविमुक्त-क्षेत्र है। अविमुक्त क्षेत्र के भीतर '**अन्तर्गृह-क्षेत्र**' है। अन्तर्गृह क्षेत्र के चारों ओर की सीमा इस प्रकार है – पश्चिम में गोकर्णेश्वर हैं, पूर्व में आधीगंगा हैं, उत्तर में भूतेश्वर, तो दक्षिण में ब्रह्मेश्वर महादेव हैं। कहीं कहीं यह भी प्रमाण मिलता है कि अन्तर्गृह के अन्य तीन क्षेत्रों में मरने पर प्राणी को शिव के सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, मोक्ष प्राप्त करने के बाद विदेह-मोक्ष अर्थात् सायुज्य की प्राप्ति होती है। पर इस मत का खण्डन भी मिलता है। वाराणसी में मरने पर सायुज्य मोक्ष ही मिलता है – **काश्यां मृतस्तु सायुज्यम्**। उपनिषदों के अनुसार वाराणसी के प्रत्येक क्षेत्र में मरने पर तारक-मंत्र के प्रभाव से फिर गर्भवास नहीं भोगना पड़ता।

मरणं मङ्गलं यत्र

"वाराणसी पुरी में मृत्यु मंगलकारी क्यों लिखा गया?" – इसका उत्तर यह है कि वाराणसी पुरी का महत्त्व बाबा विश्वनाथ द्वारा मृत्यु के समय दिये जानेवाले 'तारक-मंत्र' के प्रभाव से मोक्ष प्राप्त करने मे ही है। बिना सायुज्य मोक्ष प्राप्त किये जीव को आवागमन से छुटकारा नही मिलता। जब तक जीव का शरीर से सम्बन्ध-विच्छेद नही होता, तक तक मोक्ष कैसे सम्भव है? जीव को मोक्ष ही अभीष्ट है। बार बार जन्म और मृत्यु से जीव को कष्ट ही होता है। इससे छुटकारा पाने के लिए ही योगिजन लाखों प्रयत्न करते हैं; तपस्या, यज्ञ आदि कर्मो का अनुष्ठान करते हैं। तथापि इन कर्मो से पूर्ण सफलता मे सन्दिग्धता ही रहती है। पर शास्त्र के मतानुसार वाराणसी पुरी मे रहकर मृत्यु प्राप्त करके मुक्ति प्राप्त करना सरल है। इसीलिए हिन्दू मरने के पूर्व वाराणसी-सेवन करता है।

यह भी कहा जाता है कि वाराणसी पुरी में मरनेवालो का दाहिना कान ऊपर उठ जाता है। इसका तात्पर्य यही है कि शिवजी जीव को मरते समय दक्षिण कान में तारक-मंत्र का उपदेश करते हैं। वाराणसी पुरी में निवास का उतना महत्त्व नहीं, जितना कि वहाँ मरने का है। अतएव लिखा गया कि वाराणसी में मृत्यु ही मंगलकारी है – **मरणं मङ्गलं यत्र**।

यः कश्चिद् भेदकृल्लोके स याति नरकं ध्रुवम्।
अमङ्गलं जीवितं तु मरणं यत्र मङ्गलम्।।

('कार्ष्णि-कलाप' मासिक के
फरवरी २००२ अंक से साभार)

आत्म-भाव से सबकी सेवा

डॉ. एस. एन. पी. सिन्हा

मृत्यु के दार्शनिक पक्ष के बारे में भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है – "शरीर मरणधर्मा है, आत्मा – देह का नाश होने पर भी नष्ट नही होती – **न हन्यते हन्यमाने शरीरे** तथा आत्मा अछेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, नित्य, सर्वव्यापी, अचल, स्थिर एवं सनातन है – **अछेद्यो अयम् अदाह्यो अयम् अक्लेद्यो अशोष्य एव च । नित्यः सर्वगतः स्थाणुः अचलो अयं सनातनः** । आत्मा के अमरत्व का रहस्य उद्‌घाटित करते हुए श्वेताश्वेतर उपनिषद् के ऋषि ने कहा है – अन्धकार के परे सूर्य के सदृश तेजवान उस महान् तत्त्व को मैं जानता हूँ – **वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्** और उसे जानकर ही तुम मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकते हो, अमरत्व का दूसरा कोई मार्ग नहीं।

उपनिषद् में वर्णित इस अमरत्व का तात्पर्य जन्म एवं मृत्यु के परे जाना है। इसका निहितार्थ है – अपनी चेतना को उन्नत करना और यह ईश्वर के परम तत्त्व के बोध से भी सम्भव है। भगवान कहते हैं – हे अर्जुन, मेरा जन्म और कर्म अलौकिक है, जो व्यक्ति इस तत्त्व को जानता है, वह शरीर त्यागकर फिर जन्म नहीं लेता, बल्कि मुझे ही प्राप्त होता है – **जन्म कर्म च मे दिव्यं एवं यो वेत्ति तत्त्वतः । त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन** । यह 'विलक्षण प्रकाश' ही सर्वव्यापी 'ब्रह्म' है और मानव-चेतना में स्थित आत्मा पूर्ण ब्रह्म का ही प्रतिबिम्ब है – सभी प्राणियों के हृदय में ईश्वर निवास करते हैं – **ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति** । गीतोक्त दर्शन के चारों योगों (ज्ञान, कर्म, भक्ति, राजयोग) का उद्देश्य ब्रह्म और आत्मा की एकीकरण है। ये चारों योग अविनाशी आत्मा के लिए सर्वव्यापी ब्रह्म से मिलन के विविध मार्ग हैं। श्रेष्ठ बुद्धिवाले ज्ञानी (ब्रह्मज्ञानी), 'श्रेय' उत्तम मार्ग अपनाते हैं और क्षुद्र बुद्धिवाले 'प्रेय' या सांसारिक मार्ग पर चलते हैं।

'बृहदारण्यकोपनिषद्' में परमात्मा-प्राप्ति के मार्ग 'हृदय में स्थित कामनाओं का नष्ट होना' ही है – **यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामायेऽस्य हृदिश्रिताः** । यह मार्ग – 'सूक्ष्म है, विस्तृत है और प्राचीन है' – **अणुः पन्था विततः पुराणः**; 'दुष्कर है, छुरे की तीक्ष्ण धार पर चलने के समान कठिन' है – **क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्**; धीर लोग इस मार्ग को अपनाकर 'ब्रह्म' को जान करके ईश्वरत्व को प्राप्त करते हैं – **तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्व-विमुक्ताः** । इसे छोड़ अन्य कोई मार्ग भी नहीं है – **नान्यः पन्था विद्यते अयनाय** । सर्वशक्तिमान परमात्मा सब जीवों में है। उसकी अनुभूति ही **सत्-चित्–आनन्द** – परमानन्द है। शुभ निष्काम कर्मो द्वारा इसे प्राप्त किया जा सकता है।

'कठोपनिषद्' के यम-नचिकेता प्रसंग में भी इस अध्यात्म-विद्या की व्याख्या है। **अणोः अणीयान् महतो महीयान्** – अर्थात् जीवात्मा के हृदय रूपी गुफा में लघु-से-लघु और विराट्-से-विराट् परमात्मा स्थित रहता है। धीर 'स्थितप्रज्ञ' (बुद्धियुक्त संयत चित्त) व्यक्ति ही इस ब्रह्मविद्या द्वारा इस दुष्कर तथा कठिन मार्ग पर चलकर सतत साधना के द्वारा उस लक्ष्य को प्राप्त करके मरणधर्मा जीव **अमृतो भवति** – अमर हो जाता है, **यस्माद् भूयो न जायते** – जहाँ जाकर पुनः जन्म-ग्रहण नही करना पड़ता। **सा काष्ठा सा परा गतिः** – यही उसकी परम गति और परम पद की प्राप्ति है। इस पथ के पथिक **ब्रह्मलोके महीयसी** – ब्रह्मलोक में महिमान्वित हो जाते है अर्थात् देवत्व प्राप्ति कर देवता की श्रेणी मे पंक्तिबद्ध हो **अमृतपुत्र** हो जाते हैं।

समस्त ब्रह्माण्ड एक ही शक्ति से ओतप्रोत है। एक ही 'परम आत्मा' हर प्राणी मे स्थित है। यह ज्ञान हमें सत्य-धर्म में स्थिर करता है। अतः प्राणी मात्र के प्रति दया और प्रेम का भाव स्थापित करना ही 'स्वधर्म-कर्म' है और यही हमें ईश्वर-मार्ग की ओर प्रवृत्त करता है। भगवान श्रीकृष्ण की वाणी इस बात की पुष्टि करती है। यथा –

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥९/२९
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भाव-समन्विताः।। १०/८

– "मैं सभी प्राणियों में समान रूप से स्थित हूँ; मेरे लिए न कोई घृण्य है, न कोई प्रिय; पर जो लोग भक्तिपूर्वक मेरी उपासना करते हैं, वे मुझमें स्थित है और मैं उनमे हूँ। ... मैं ही सबका मूल कारण हूँ, मुझसे ही सब कुछ उत्पन्न हुआ है – ज्ञानीजन ऐसा समझकर प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करते हैं।"

वेदान्त के भविष्यद्रष्टा ऋषिगण यह बात जानते थे कि मनुष्य प्रकृति से पृथक् नही है। मनुष्य की चेतना के विकास के पीछे सम्पूर्ण प्रकृति है, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है। इसीलिए उन लोगों ने सर्व जीवो के प्रति सहानुभूति और विश्व-कल्याण का उपदेश दिया। दो शब्दों में वेदान्त तथा भगवान बुद्ध के उपदेशो का सार है – 'ब्रह्मविद्या' और 'भूतदया'। अद्वैत के महान् द्रष्टा भगवान शंकराचार्य ने भी – **भूतदयां विस्तारय तारय संसार-सागरतः** – कहकर भूतदया के विस्तार की बात कही है। सन्त तुलसीदास ने **परहित सरिस धरम नहीं भाई** और **दया धर्म का मूल** कहा है। सेवा, परस्पर सहयोग और प्रेम का भाव सब धर्मों का निचोड़ है। सेवा-मार्ग को शास्त्रों ने 'श्रेय-मार्ग' कहा है।

निस्सन्देह यह 'श्रेय-मार्ग' ही स्वधर्म-कर्म और सेवा-कर्म है। अपने नित्य के सीधे-सादे सेवा-कर्म को ही यज्ञ समझकर पूरा करना ही ईश्वर तक पहुँचा देनेवाला राजमार्ग है। निष्काम कर्म – **सर्वभूत हिते** रत रहना ही **शान्तं-शिवं-अद्वैतम्** की ओर प्रवृत्त करता है। गीता में स्पष्ट लिखा है – "जो निष्पाप, जितेन्द्रिय तथा निःशंक हैं और सभी प्राणियों के हित में लगे रहते हैं, ऐसे ऋषिगण ही ब्रह्म में निर्वाण प्राप्त करते हैं।"

लभन्ते ब्रह्म निर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्न-द्वैधा यतात्मनः सर्वभूत-हिते रताः ।। ५/२५

भगवान और भी कहते हैं – "जिन लोगों ने समबुद्धि होकर अपनी इन्द्रियों पर संयम कर लिया है और सभी जीवों के हित में लगे रहते हैं, वे मुझे ही प्राप्त करते हैं।"

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूत-हिते रताः।। १२/४

उनमें निष्काम सेवा-भाव से अद्वेष, प्रेम, करुणा आदि उच्चतर मानवीय मूल्यों का समावेश स्वतः हो जाता है और वे ईश्वर के हाथों के प्रिय यंत्र बन जाते हैं। वे कहते हैं –

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ।। १२/१३
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।। १२/१४

– "जो समस्त प्राणियो के प्रति द्वेषभाव से रहित और मित्रता एवं करुणा की भावना से युक्त है, जिसमें 'अहं' व 'मम' का अभाव है, जो सुख-दुख में समभाव रखनेवाला है, क्षमाशील है ... और अपनी मन-बुद्धि को मुझमें अर्पित किये हुए है – मेरा ऐसा भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय है।"

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने 'गीता-बोध' में स्वधर्म अथवा स्वकर्म का विवेचन इस प्रकार किया है – "कर्मों की शृंखला में न पड़ें, ... बल्कि अपने हिस्से में जो सेवा आ जाय, उसे निष्काम भाव से करते रहें। ऐसे कर्मों को करते हुए हम मोक्ष के अधिकारी हो जाते हैं। ... जो इस प्रकार स्वधर्म पालन करते हुए शुद्ध हो गया, जिसने मन को वश में कर रखा है – राग-द्वेष को जीत लिया है, मन, वचन, काया को अंकुश में रखता है – ईश्वर का ध्यान बनाए रहता है – वह शान्त योगी ब्रह्मभाव को पाने योग्य है। ऐसा मनुष्य सबके प्रति समभाव रखता है – हर्ष-शोक नहीं करता, ऐसा भक्त ईश्वर-तत्त्व को यथार्थ जानता है और ईश्वर में लीन हो जाता है। ... ईश्वर का आश्रय लेता है, वह अमृत-पद पाता है, इसलिए भगवान कहते हैं – "सब मुझे अर्पण कर मुझमें पारायण हो और विवेक-बुद्धि का आश्रय लेकर मुझमें चित्त पिरो दो।" इसे गीता का प्रेरक-मंत्र कहा जा सकता है – "सब धर्मों को तजकर मेरी शरण लो।" सब धर्मो के त्याग का मतलब सब कर्मों का त्याग नहीं है। परोपकार के कर्मों में, जो सर्वोत्कृष्ट कर्म हों, उसे अर्पण करना और फलेच्छा का त्याग करना ही सर्व-धर्म-त्याग है। यज्ञ नित्य कर्तव्य है। यज्ञ का अर्थ सेवा समझकर **परोपकाराय सतां विभूतयः** – सज्जनों की विभूतियों को परोपकारार्थ बताया गया है। सेवा-कार्य को **कृष्णार्पण** भाव से करना ही यज्ञ है। यह त्यागभाव से करना है। मनुष्य मात्र की पूँजी **सेवार्थ** है और यह होने पर सारे जीवन में भोग का खात्मा हो जाता है। जीवन त्यागमय हो जाता है। मनुष्य का त्याग ही उसका भोग है।"

हमारे प्राचीनतम आध्यात्मिक जीवन में भी धर्म मानव-सेवा का दूसरा रूप माना गया है। महाभारत के कर्ण-पर्व में भगवान वेदव्यास कहते हैं – "जिस कार्य से दूसरों का हित होता हो और किसी को कष्ट न पहुँचता हो, वही धर्म है।"

अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ।
यः स्यादहिंसा संयुक्त स धर्म इति निश्चयः ।।

इसका अभिप्राय यह है कि – सेवा-धर्म ही मानव के उत्तरोत्तर विकास में सहायक है और पूर्ण विकास कर अन्ततः परमात्मा से तादात्म्य स्थापित करता है।

इसी ज्ञान को वैदिक ऋषियों ने अज्ञान के तमस् से ज्ञान के आलोक, भीतरी अँधेरे से ऊपर के प्रकाश की ओर और जन्म-मरण के चक्र से अमरत्व की ओर ले जानेवाला कहा है। इसी गन्तव्य की ओर गमन करनेवाले **मृत्युंजय** होते हैं।

तमसो मा ज्योतिर्गमय ।
मृत्योर्मा अमृतं गमय ।।

परमात्म-बुद्धि का विकास मानवता की पराकाष्ठा है। मानव में अन्तर्निहित शक्ति वस्तुतः उस पूर्ण ब्रह्म से निःसृत – **पूर्णमदः पूर्णमिदम्** – आत्मशक्ति है। कर्म-ज्ञान-भक्ति के समत्व-योग की साधना के द्वारा आत्मिक विकास करके उस पूर्ण अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है। **ईशा वास्यम् इदं सर्वम्** – विश्व को ईश्वरीय व्यवस्था समझकर, **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः** – त्याग के द्वारा स्वपोषण की वृत्ति, **आत्मौपम्य दृष्टि** – सबको अपने समान देखना और **आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्** – जो आचरण स्वयं को अनुकूल न लगे, वैसा दूसरों के साथ न करना और **सर्वभूत हिते रताः** – सर्व जीवों के हित को लक्ष्य बनाकर मानवता का चरम लक्ष्य – अपने अनन्त, असीम, अखण्ड, अविनाशी, सनातन, नित्य, सत्यरूप सच्चिदानन्द – पूर्ण स्वरूप की उपलब्धि करके मनुष्य मृत्युंजय हो जाता है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

आध्यात्मिक-प्रश्नोत्तरी

(विवेक-ज्योति के प्रारम्भिक वर्षों में प्रकाशित पाठकों के प्रश्न तथा तत्कालीन सम्पादक ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी के उत्तर। – सं.)

५९. प्रश्न – (१) सत्य क्या है? (२) सत्य कैसे प्राप्त किया जा सकता है? (३) जीवन क्या है? जीवन का सत्य के साथ क्या सम्बन्ध है?

उत्तर – (१) सत्य के दो प्रकार हैं – व्यावहारिक और पारमार्थिक। देह और मन व्यावहारिक दृष्टि से सत्य हैं, जबकि आत्मा की सत्यता पारमार्थिक है। अतएव आत्मा शाश्वत और सर्वव्यापी है और इसीलिए वह परम सत्य है। इसका अर्थ यह भी हुआ कि एक काल में दोनों सत्य नहीं भासते। जब व्यावहारिक सत्य भासता है, तब पारमार्थिक सत्य सामने नहीं रहता और पारमार्थिक सत्य के अनुभूत होते समय व्यावहारिक सत्य लुप्त हो जाता है। रस्सी और सर्प एक साथ नहीं दिखते। या तो सर्प, या फिर रस्सी। इलेक्ट्रान कभी लहर (wave) के रूप में दिखता है, तो कभी कण (parti-cle) के रूप में। एक ही काल में वह लहर और कण नहीं होता। जब वह कण है तब लहर नहीं, जब लहर है तब कण नहीं। इसी प्रकार, जब देह-मन दिखते हैं तब आत्मा का बोध नहीं है; और जब आत्मा का बोध है तब देह-मन नही है।

(२) इस सत्य को प्राप्त करने का तरीका है 'योग'। योग का क्या मतलब है इसे भी समझ लेना चाहिए। योग का लक्ष्य है – मन का अपने ऊपर एकाग्र हो जाना। यह लक्ष्य और इस लक्ष्य को जिस उपाय से पाया जाता है वह उपाय – दोनों ही योग के अन्तर्गत आते हैं। वैसे तो मन अपनी अभिरुचि के विषय में अनायास ही एकाग्र हो जाता है। जिसे चित्रपट में रुचि है, उसका मन चित्र बनाते समय संसार के विषयों से हटकर चित्र बनाने में लग जाता है। पर यह योग की एकाग्रता नहीं है। शकुन्तला दुष्यन्त के ध्यान में इतनी एकाग्र और तन्मय हो गई थी कि उसे दुर्वासा ऋषि के आगमन का पता ही न चला। पर इसे योग की एकाग्रता नहीं कहा जा सकता। योग की एकाग्रता का मतलब है – मन का संसार के विषयों से हटकर अपने आप में केन्द्रित हो जाना। यह जिस उपाय से भी सधे, उसे योग कहते हैं।

आज हमारा मन अतीव चंचल है, बिखरा हुआ है। उसमें असीम सम्भावनाएँ निहित हैं, पर बिखराव के कारण उसमें भेदन-शक्ति (penetrating power) नहीं है; वह अपनी गहराइयों में नहीं उतर पाता। पर यदि किसी उपाय से मन के बिखराव को समेटकर उसे अपने ही ऊपर एकाग्र करने में हम समर्थ हो सकें तो इसी मन में इतनी भेदन-शक्ति आती है कि वह क्रमश: अपनी गहराइयों में उतरता जाता है, अपनी परतों का छेदन करता जाता है। इसी को राजयोग की भाषा में कुण्डलिनी-जागरण या षट्‌चक्र-भेदन और वेदान्त की भाषा में इसे पंचकोश-भेदन के नाम से जानते हैं। भेदन करते करते एक ऐसी अवस्था आती है, जब मन अपने को मानो छलाँग-सा मारकर पार हो जाता है। इसी का अमनी-मन की अवस्था, तुरीय, चतुर्थ अवस्था, सत्य का साक्षात्कार, ईश्वर-दर्शन आदि नामों से उल्लेख करते हैं।

यह ठीक मानो इस प्रकार है जैसे आलोक की सामान्य किरण। इस किरण में भेदन-शक्ति नहीं होती। पर अगर इसकी frequency बढ़ा दें, इसके स्पन्दन को तीव्र कर दें तो यही एक्स-रे बन जाती है और कई वस्तुओं को भेद देती है। यह सामान्य हवा है, इसमें कोई दबाव या शक्ति नहीं मालूम पड़ती। पर यदि इसी को compress कर दें, दबा दें, तो इस compressed air (दबी हवा) से कठोर-से-कठोर चट्टानें कट जाती हैं। हवा-दबावक (Air-compressor) के पीछे यही तत्त्व है। ठीक इसी प्रकार, जब मन को उसके अपने ऊपर ही केन्द्रित किया जाता है, तो उसमें अन्दर घुसने की क्षमता आ जाती है। जिस उपाय से यह सधता है, उसे 'योग' कहते हैं। यह योग ही सत्य की प्राप्ति का साधन है। इस योग को प्रवृत्ति-प्रधानता की दृष्टि से ज्ञान, कर्म, भक्ति और योग – इन चार भागों में बाँटा गया है।

(३) ऊपर जिसे हमने व्यावहारिक सत्य कहा, उसे 'जीव' कहते हैं। जिस रूप में हम संसार को देखते तथा अनुभव करते हैं, सामान्य भाषा में उसी को 'जीवन' कहते हैं। परन्तु साधना की भाषा में जीवन तभी जीवन है, जब वह पारमार्थिक सत्य को पाने का साधन बन जाता है। साधनाहीन, विवेकहीन और धर्महीन जीवन पशु का जीवन है। यह साधना या विवेक या धर्म क्या है? यह वह है, जो हमारे वर्तमान जीवन को उस परम सत्य की प्राप्ति का साधन बना दे, क्योंकि जीवन तथा सत्य के बीच परस्पर साधन तथा साध्य का सम्बन्ध है।

६०. प्रश्न – भावुकता एवं भावोन्माद में क्या भेद है?

उत्तर – भावुकता को जगाया जा सकता है और वह अच्छी एवं बुरी दोनों प्रकार की हो सकती है। पर भावोन्माद को जगाया नहीं जा सकता। वह भगवत्कृपा से ही प्राप्त होती है। दोनो के बाह्य लक्षण सरसरी तौर पर भले ही समान दिखें, पर थोड़ी सूक्ष्मता से देखने पर पता चल जाएगा कि भावुकता में चांचल्य अधिक होता है और इस कारण उसमें अवसन्नता भी शीघ्र लक्षित होती है, जबकि भावोन्माद में धीरता एवं गम्भीरता होती है। भावुकता में आक्रोश अधिक होता है और भावोन्माद में स्निग्धता होती है। भावुकता को जगा देने पर उसके उपशम होने के बाद मन में एक बुरी प्रतिक्रिया हो सकती है। देखा गया है कि जो लोग अंगभंगी या बलपूर्वक अपनी भावुकता को जगा लिया करते हैं, उनका मन थोड़ी देर बाद निम्नगामी हो जाता है। भावुकता एक लहर के समान है। वह ऊपर उठेगी, तो नीचे भी गिरेगी। इसीलिए भावुक व्यक्ति चंचल, असहिष्णु तथा अस्थिर देखे गये हैं। भावोन्माद इससे सर्वथा भिन्न है। वह साधना की परिपक्व अवस्था में भगवत्प्रेम से उपजता है। उसमें मन की गिरावट नही हुआ करती। इसी कारण महात्मागण उपदेश देते हैं कि ध्यान में मन को शान्त और स्थिर रखना चाहिए। उस समय भावुकता को प्रश्रय नहीं देना चाहिए। भावुकता मन को दुर्बल बना देती है, जबकि भावोन्माद मन को सुदृढ़ बनाता है।

६१. प्रश्न – स्वामी विवेकानन्द ने कर्म, ज्ञान एवं भक्ति – तीनों के समन्वय को साधक-जीवन में आदर्श माना है, पर यह कैसे सम्भव है? क्या ये तीनों सर्वथा भिन्न मार्ग नहीं हैं?

उत्तर – नहीं, तीनों सर्वथा भिन्न नहीं कहे जा सकते। कर्मयोग या भक्तियोग पर बातें करते समय हमारा तात्पर्य यह होता है कि जिस मार्ग में हमारी रुचि है, हम उस पर अधिक जोर देते हैं। अब मान लीजिए, आप भक्तियोग के अनुगामी हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि आप कर्म ही न करें। आप कर्म अवश्य करें, पर कर्मो को ईश्वर की उपासना बना लेना सीख लें। भक्ति के पथ पर चलने का तात्पर्य यह नहीं है कि आप विचार और विवेक को जीवन में स्थान ही न दें। यदि आप ऐसा करते हैं, तो आपकी भक्ति मात्र भावुकता बन सकती है। अतएव भक्ति में सन्तुलन को बनाए रखने के लिए विचार आवश्यक है। फिर यदि आप ज्ञान का सहारा न लें, तो ईश्वर का स्वरूप भी कैसे समझ में आएगा? यदि वह समझ में न आया, तो ईश्वर के प्रति प्रीति भी कैसे पनप पाएगी? अतएव ईश्वर के प्रति भक्ति को पुष्ट करने के लिए कर्म और ज्ञान – दोनों की ही आवश्यकता है। इसी प्रकार प्रत्येक मार्ग को समझ लें। अतएव एक की विशिष्टता में अन्य सबका समन्वय ही वांछित लक्ष्य होना चाहिए।

६२. प्रश्न – (१) ज्ञानस्वरूप परमात्मा में जीवपने का अज्ञान क्यों? सूर्य में अन्धकार कैसे? (२) 'एकोऽहं बहु स्याम्' की कल्पना 'जो तिहुं काल एकरस रहई' परमात्मा ने अपने में किस नीरसता का अनुभव करके किया?

उत्तर – (१) वस्तुतः देखा जाए तो ज्ञान-स्वरूप परमात्मा में जीवपना है ही नहीं। जैसे रस्सी में सर्प का भ्रम हुआ। सर्प तो कभी है ही नहीं। रस्सी को कभी सर्प-पने का अज्ञान नहीं होता। यह अज्ञान उसे होता है, जो रस्सी से भिन्न है। इसी प्रकार ज्ञानस्वरूप परमात्मा को कभी जीवपने का अज्ञान नहीं होता। जीवपने का अज्ञान उसे होता है, जो परमात्मा से भिन्न है, उससे कटा है। तो पूछा जा सकता है कि वह कौन है जो परमात्मा से विलग है? उत्तर यह है कि अज्ञान ही परमात्मा से विलग है। इसी को 'माया' भी कहते हैं। यह माया परमात्मा से विलग होते हुए भी उसके अधीन है। यह सारा विचार मनुष्य ही करता है। और जब वह दृश्यमान् विश्व से अतीन्द्रिय सत्ता के अनुभव की ओर यात्रा करता है, तो उसे शब्दों के सहारे ही विचार करना पड़ता है। पर शब्द उस अतीन्द्रिय सत्य का वर्णन करने में समर्थ नहीं हैं। तथापि इस संसार को तत्त्व की दृष्टि से समझना ही पड़ता है। इसीलिए वाक्य-विन्यास में सत्य की दृष्टि से अपूर्णता रह जाती है।

हम एक ऐसे सत्य की कल्पना करें, जहाँ न ज्ञान है, न अज्ञान; न जीवन है, न मृत्यु। उस सत्य पर एक आवरण की कल्पना करें। उस आवरण में क्रमशः विक्षोभ पैदा होता है और धीरे धीरे यह असंख्य नाम-रूपात्मक जगत् बनता है। नाम-रूप अपने भीतर मानो उस अतीन्द्रिय सत्ता को सीमित कर लेते हैं। वह असीम सत्ता मानो सीमित हो जाती है। इसी को जीवपना कहते हैं। इन्द्रिय-मन आदि की दृष्टि से जीवपना है, पर सत्य-स्वरूप ब्रह्म की दृष्टि से जीवपना नहीं है।

दूसरा उदाहरण लें। कल्पना करें कि वह सत्य सूर्य-सदृश है और आवरण दर्पण-सदृश। हठात् दर्पण के टुकड़े टुकड़े हो गए और हर टुकड़े में सूर्य प्रतिबिम्ब के रूप मे सीमित हो गया। यह प्रतिबिम्ब जीवपना है। दर्पण की दृष्टि से जीवपना सही है, पर सूर्य की दृष्टि से नहीं। अन्धकार सूर्य में न होकर दर्पण में है, ब्रह्म में न होकर इन्द्रिय-मन आदि में है।

(२) यदि प्रश्न किया जाय कि यह अज्ञान कब तथा कैसे शुरू हुआ; यह आवरण ब्रह्म नामक अतीन्द्रिय सर्वव्यापी सत्ता के समक्ष कब और कैसे प्रकट हुआ; ज्ञान-स्वरूप चैतन्यमय सूर्य के समक्ष यह जड़ात्मक दर्पण कैसे पैदा हुआ? तो विचार या ज्ञान की दृष्टि से इसका उत्तर है – 'पता नही।' पर भावना या भक्ति की दृष्टि से कहना पड़ता है – 'उस एक ने अनेक होने की इच्छा की।' वस्तुतः 'तिहुं काल एकरस' मे नीरसता मात्र कवि-कल्पना है, यथार्थ नहीं। ❖ **(क्रमशः)** ❖

अध्याय – ६

जीवन्मुक्त के लक्षण

अथ जीवन्मुक्त-लक्षणम्-उच्यते ।।२१६।।

– अब जीवन्मुक्त[१] के लक्षण बताये जाते हैं।

जीवन्मुक्तो नाम स्व-स्वरूप-अखण्ड-ब्रह्मज्ञानेन तद्-अज्ञान-बाधन-द्वारा स्व-स्वरूप-अखण्ड-ब्रह्मणि साक्षात्कृते-अज्ञान-तत्कार्य-सञ्चितकर्म-संशय-विपर्यय-आदीनाम् अपि बाधितत्वाद् अखिल-बन्ध-रहितो ब्रह्मनिष्ठः ।।२१७।।

– जो अपने अखण्ड ब्रह्म-स्वरूप के ज्ञान द्वारा, उस विषय-वाले अज्ञान को नष्ट करके, अपने अखण्ड ब्रह्म-स्वरूप का साक्षात्कार करके, अज्ञान तथा उसके कार्य – संचित कर्म, संशय, विपर्यय (विपरीत ज्ञान या भ्रान्तियों) आदि का भी नाश हो जाने से, समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है – ऐसे ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति को 'जीवन्मुक्त' कहते हैं।[२]

'भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते च अस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।' (मुण्डक. उप. २/२/८) इत्यादि-श्रुतेः ।।२१८।।

– "उन परावर (अवर या कारण ब्रह्म से पर अर्थात् शुद्ध) ब्रह्म का दर्शन होने पर हृदय की गाँठ कट जाती है, समस्त संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, उसके सारे (पूर्व) कर्मों का भी क्षय हो जाता है।" आदि श्रुतियों में द्रष्टव्य हैं।

अयं तु व्युत्थान-समये मांस-शोणित-मूत्र-पुरीष-आदि-भाजनेन शरीरेण, आन्ध्य-मान्द्य-अपटुत्व-आदि-भाजनेन इन्द्रिय-ग्रामेण, अशना-पिपासा-शोक-मोह-आदि-भाजनेन अन्तःकरणेन च, पूर्व-पूर्व-वासनया क्रियमाणानि कर्माणि भुज्यमानानि ज्ञान-अविरुद्ध-आरब्ध-फलानि च पश्यन्-अपि बाधितत्वात् परमार्थतो न पश्यति। यथा इन्द्रजालम् इति ज्ञानवान् तद्-इन्द्रजालं पश्यन्-अपि परमार्थम् इदम् इति न पश्यति ।।२१९।।

– ऐसा (जीवन्मुक्त) समाधि से व्युत्थित होने (जाग्रत अवस्था में आने) पर मांस, रक्त, मल, मूत्र आदि के भाजन (आधार) रूप शरीर; अन्धता, दुर्बलता, अकुशलता आदि के आधार रूप इन्द्रियों; और भूख-प्यास-शोक-मोह आदि के आधार रूप अन्तःकरण के द्वारा; पुरानी वासनाओं के फलस्वरूप (संस्कारों के वेग से हो रहे) क्रियमाण कर्मों और ज्ञान के साथ अविरोधी तथा भोगे जा रहे प्रारब्ध कर्मफलों को देखते हुए भी उन्हें सत्यत्व-बुद्धि से नहीं देखता है, क्योंकि उनका वैसे ही बाध (मिथ्यात्व निश्चय) हो चुका है, जैसे कि जादू का खेल देखते हुए भी 'यह इन्द्रजाल है' – ऐसा जानेवाला व्यक्ति 'यह सत्य है' – ऐसा नही देखता।

'सचक्षुः अचक्षुः इव सकर्णः अकर्ण इव' इत्यादि-श्रुतेः ।।२२०।।

– जैसा कि "वह नेत्रवाला होकर भी नेत्रहीन के समान है और कानोवाला होकर भी कर्णहीन के समान है।" आदि श्रुतियों में बताया गया है।

उक्तं च – 'सुषुप्तवत्-जाग्रति यो न पश्यति, द्वयं च पश्यन्-अपि च अद्वयत्वतः। तथा च कुर्वन्-अपि निष्क्रियः च यः, स आत्मवित् न अन्य इति इह निश्चयः ।।' इति (उपदेश-साहस्त्री, ५) ।।२२१।।

– कहा भी है – "जो जागते हुए भी सोये हुए के समान देखता नहीं, जो केवल अद्वैत में स्थित होने के कारण द्वैत को नही देखता और जो कर्म करते हुए भी निष्क्रिय है, इस जग में निश्चय ही वही आत्मज्ञानी है, अन्य कोई नहीं।"

अस्य ज्ञानात्पूर्वं विद्यमानानाम् एव आहार-विहार-आदीनाम् अनुवृत्तिवत् शुभ वासनानाम् एव अनुवृत्तिः भवति शुभ-अशुभयोः औदासीन्यं वा ।।२२२।।

– उस (जीवन्मुक्त) में ज्ञान होने के पूर्व के जो आहार-विहार आदि थे, उनकी अनुवृत्ति (बारम्बार प्रवृत्ति) की तरह शुभ वासनाओं (संस्कारों) की भी अनुवृत्ति होती है, या फिर शुभ तथा अशुभ – दोनों के प्रति उदासीनता आ जाती है।[३]

तद्-उक्तं – 'बुद्ध-अद्वैत-सतत्त्वस्य यथेष्ट-आचरणं यदि, शुनां तत्त्वदृशां च एव को भेदो अशुचि-भक्षणे' इति (नैष्कर्म्य-सिद्धिः ४/६२) ।। 'ब्रह्मवित्तं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतरः' इति च (उपदेश-साहस्त्री ११५) ।।२२३।।

– जैसा कि कहा गया है – "जिसने अद्वैत तत्त्व को जान

१ जीवन्मुक्त = शरीर में रहते हुए ही मुक्ति का अनुभव करनेवाला। **जगन्मिथ्यात्व-बोधेन आत्म-सत्यत्व निश्चयः जीवन्मुक्तता** – (देहभान रहते हुए भी) आत्म-सत्यता के बोध के साथ ही जगत् के मिथ्यात्व का भी बोध रहना जीवन्मुक्तता का लक्षण है।

२. जीवन्मुक्त के संचित तथा आगामी कर्म नष्ट हो जाते है, परन्तु प्रारब्ध शेष रहने तक उसी से जीवन-यात्रा चलती है।

३. शम-दम के द्वारा अशुभ वृत्तियो का पहले ही नाश हो चुका है, क्योंकि वह विधि-निषेध के परे जा चुका है – **निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः।**

लिया है, वह यदि यथेच्छाचार करने लगे, तो फिर अपवित्र का भक्षण करनेवाले कुत्ते तथा ज्ञानियों में भेद ही क्या रहा?'' और ''जो 'मैं ब्रह्मज्ञानी हूँ' – इस अहंकार को भी त्याग देता है, वही ब्रह्मज्ञानी है, दूसरा कोई नहीं।''

तदानीम् अमानित्व-आदीनि ज्ञान-साधनानि अद्वेष्ट्त्व-आदयः सद्गुणाः च अलङ्कारवत् अनुवर्तन्ते ।।२२४।।

– तब (ज्ञान के बाद) विनय आदि ज्ञान के साधन और ईर्ष्या-राहित्य, अहिंसा आदि सद्गुण अलंकारों के समान उनके साथ रह जाते हैं।

तद्-उक्तं - उत्पन्न-आत्म-अवबोधस्य हि अद्वेष्ट्त्व-आदयो गुणाः। अयत्नतो भवन्ति अस्य न तु साधन-रूपिणः ।। इति (नैष्कर्म्य-सिद्धिः ४/६९) ।।२२५।।

– कहा भी है – ''आत्मबोध उत्पन्न हुए (सिद्ध) व्यक्ति में अहिंसा, अद्वेष आदि गुण (यम-नियम आदि) साधनों के रूप में नहीं, अपितु सहज रूप से आ जाते हैं।''

कैवल्य अथवा पूर्णता

किं बहुना अयं देहयात्रा-मात्र-अर्थम् इच्छा-अनिच्छा-परेच्छा-प्रापितानि सुख-दुःख-लक्षणानि आरब्ध-फलानि अनुभवत् अन्तःकरण-आभास-आदीनाम् अवभासकः सन् तद्-अवसाने प्रत्यगानन्द-पर-ब्रह्मणि प्राणे लीने सति अज्ञान-तत्कार्य-संस्काराणाम्-अपि विनाशात् परम-कैवल्यम् आनन्द-एकरसम् अखिल-भेद-प्रतिभास-रहितम् अखण्ड-ब्रह्म-अवतिष्ठते ।।२२६।।

– अधिक क्या कहें? वह (जीवन्मुक्त) देहयात्रा मात्र के लिए, प्रारब्ध फलों के अनुसार इच्छा-अनिच्छा या परेच्छा से लाए गए सुख-दुःख आदि का अनुभव करता हुआ, मिथ्या आभास रूपी अन्तःकरण आदि को प्रकाशित करता हुआ और उस (प्रारब्ध) का क्षय हो जाने पर, अन्तरात्मा-रूप आनन्द-स्वरूप परब्रह्म में प्राणों के लीन हो जाने पर; अज्ञान तथा उसके कार्य (संस्कारों) का भी विनाश हो जाता है; और तब वह परम कैवल्य (मोक्ष) रूप आनन्द, एकरस, सर्व भेदों के आभास से रहित, अखण्ड ब्रह्म में स्थित हो जाता है।

'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (बृ. उ. ४/४/६) 'अत्र एव समवनीयन्ते' (बृ. उ. ३/२/११) 'विमुक्तः च विमुच्यते' (कठ. उ. ५/१) इत्यादि-श्रुतेः ।।२२७।।

– जैसा कि वेद में कहा गया है – ''उसके प्राण (सूक्ष्म शरीर) (पुनर्जन्म हेतु) अन्यत्र नहीं जाते।''; ''उसी (समष्टि भूत अथवा कारण) में विलीन हो जाते हैं।''; ''(देह आदि अज्ञान के कार्य से) वियुक्त होकर वह विदेहमुक्त हो जाता है।''

❖ (समाप्त) ❖

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि पिछले किसी अंक से बनना हो, तो उसका उल्लेख करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें - 'नया सदस्य'।

(३) अपनी पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही उसका नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उससे पहले प्राप्त शिकायतों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा। अंक उपलब्ध होने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ५/- रुपयों का अतिरिक्त खर्च वहन करके इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमारे कार्यालय को न भेजें।

(६) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

राजकोट आश्रम की कौस्तुभ-जयन्ती

सन् १८९१-९२ ई. । एक परिव्राजक संन्यासी के वेश में स्वामी विवेकानन्द पश्चिम भारत के पथ पर चले जा रहे हैं – अहमदाबाद, द्वारका, भावनगर, भुज होते हुए। स्वामीजी स्वप्न देख रहे हैं कि भारतवर्ष के अन्यान्य अंचलों की भाँति एक दिन यहाँ भी पवित्रता, वैराग्य, सेवा और ज्ञान की शिखा प्रज्वलित होगी; एक दिन उनका यह स्वप्न साकार होगा।

सन् १९२६ में स्वामी माधवानन्द जी राजकोट में आए थे। तब तक वे रामकृष्ण संघ के परम अध्यक्ष नहीं बने थे। तभी राजकोट के गणमान्य नागरिकों ने पूज्यपाद महाराज से वहाँ रामकृष्ण आश्रम की स्थापना के लिए आग्रह किया था। उस समय तक सम्पूर्ण पश्चिमी भारत में रामकृष्ण मठ और मिशन का कोई केन्द्र नहीं था। अस्तु, उन लोगों के हार्दिक अनुरोध के कारण ही ५ मार्च, १९२७ को राजकोट में रामकृष्ण मठ के एक केन्द्र का शुभारम्भ हुआ। मोरवी के राजा श्री लखाधीर जी के सहयोग से इस पवित्र केन्द्र की स्थापना हुई। इस वर्ष उक्त आश्रम की प्लैटिनम या कौस्तुभ जयन्ती मनाई जा रही है।

परवर्ती काल में ठाकुर साहब धर्मेन्द्र सिंह जी ने एक स्थायी जमीन दान की । उसी जमीन पर सन् १९३५ में दुर्गाष्टमी की पुण्य तिथि पर एक स्थायी केन्द्र का श्रीगणेश हुआ, जो क्रमशः वर्द्धित होकर आज पूरे गुजरात में एक सुविख्यात आश्रम के रूप में प्रतिष्ठित है। प्रारम्भ में एक छोटे-से कमरे में ठाकुर की नित्य पूजा होती थी। परन्तु अब बेलूड़ मठ के सदृश ही निर्मित विशाल सार्वभौमिक मन्दिर वहाँ का प्रमुख आकर्षण है। साथ ही वहाँ एक सुन्दर छात्रवास, ग्रन्थालय और एक प्रकाशन विभाग भी हैं। जाति- धर्म निरपेक्ष सभी छात्रों के लिए विद्यार्थी-मन्दिर की स्थापना १९३२ ई. में हुई। वर्तमान बृहत् विद्यार्थी-भवन सन् १९६२ में निर्मित हुआ। यहाँ पर बहुत निर्धन मेधावी छात्रों को निःशुल्क या अल्प शुल्क में शिक्षा प्रदान की जाती है। इसके अतिरिक्त विवेकानन्द गुरुकुल नामक छात्रावास भी स्थापित है।

इस आश्रम के सुसज्जित ग्रन्थालय की स्थापना सन् १९२७ में हुई। उसके बाद १४ अक्टूबर, १९५५ को उसे वर्तमान भवन में स्थानान्तरित किया गया। इस ग्रन्थालय का उद्घाटन भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने किया था।

आश्रम के प्रकाशन विभाग ने अब तक प्रायः १४० पुस्तकों का प्रकाशन किया है। अप्रैल, १९८९ से इस आश्रम द्वारा गुजराती भाषा में 'श्रीरामकृष्ण ज्योत' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन भी प्रारम्भ किया गया।

राजकोट आश्रम ने आपदा-राहत के क्षेत्र में भी विशेष कार्य किया है। प्रायः आरम्भ से ही विभिन्न समय अकाल, बाढ़, तूफान, भूकम्प आदि प्राकृतिक प्रकोप तथा साम्प्रदायिक दंगों के समय भी छोटे-बड़े अनेक प्रकार के राहत-कार्य करके यह आश्रम 'शिवज्ञान से जीव-सेवा' के व्रत पर अग्रसर हुआ है। इसके अतिरिक्त इस आश्रम में जनवरी, २००२ से आदर्श-मूलक शिक्षा-केन्द्र की स्थापना हुई है। वाचनालय एवं प्रदर्शनी-भवन के पास ही एक नवनिर्मित प्रेक्षागृह है, जहाँ आश्रम के सभा-सम्मेलनों का आयोजन होता है।

बेलूड के रामकृष्ण मिशन विद्यामन्दिर द्वारा ४ जुलाई, २००२ को हीरक जयन्ती का समापन समारोह मनाया गया। इस अवसर पर पश्चिम बंगाल के राज्यपाल श्री वीरेन शाह और अन्य गणमान्य व्यक्ति उपस्थित थे। सभा की अध्यक्षता रामकृष्ण मठ व मिशन के महासचिव स्वामी स्मरणानन्द जी ने की। इस अवसर पर इंडियन एपिक कल्चर सेंटर, कोलकाता ने विद्यामन्दिर को 'विश्वनायक विवेकानन्द एपिक पुरस्कार २००२' प्रदान किया।

पुरी के रामकृष्ण मिशन द्वारा रथयात्रा के शुभ अवसर पर एक स्वास्थ्य-शिविर का आयोजन किया गया, जिसमें ३५ रोगियों की चिकित्सा की गई और ६००० यात्रियों को नींबू का शर्बत पिलाया गया।

रामकृष्ण मिशन सेवाप्रतिष्ठान के विवेकानन्द औषधि-विज्ञान सस्थान द्वारा २७ और २८ जुलाई को १६वें वार्षिक वैज्ञानिक सम्मेलन का आयोजन किया गया। इसका उद्घाटन पश्चिम बंगाल के स्वास्थ्य मंत्री श्री सूर्यकान्त मिश्र ने किया।

हैदराबाद, रामकृष्ण मठ ने २८ अप्रैल से २६ मई तक नवयुवकों के लिए एक महीने का सुदीर्घ शिविर आयोजित किया। इस शिविर में १० से १५ वर्ष तक की आयु-वर्ग के लगभग ६०० बच्चों ने भाग लिया। शिविर में प्रतिदिन योगासन, ध्यान, भजन, वैदिक-पाठ तथा नैतिक विषयों पर कक्षाएँ आदि ली गईं।

❖ ❖ ❖

मासिक 'विवेक-ज्योति' में वर्ष २००२ ई. के दौरान प्रकाशित लेखकों तथा उनकी रचनाओं की सूची